श्रीहरिः

"सुलभ-शान्ति"

"आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशंति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥"
विहायकामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥"

– गीताजी (२–७०, ७१).

जिस प्रकार जल चारों ओरसे पूर्यमाण अचल–प्रतिष्ठ समुद्र में प्रवेश करतें हैं, वही प्रकार जिस में सब कामनाएं प्रविष्ट होती हैं, वह आप्तकाम पुरुष शान्तिको प्राप्त करता है, इच्छापूर्ति की कामनावाला नहीं।

जो पुरुष सब लौकिक इच्छाओंको छोड कर निःस्पृह आत्माराम होकर जीवन–व्यवहार करता है वह निर्मम–निरहंकार पुरुष शान्तिको प्राप्त होता है।

"इत्यच्युतांघ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः।
भवन्ति वै भागवतस्य राजंस्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात्॥"

– श्रीमद्भागवत (११–२–४३).

इस प्रकार (शरणागति–समर्पण–पूर्वक) भगवान् श्रीकृष्ण के चरणोंको अनुकूल होकर सेवा करनेवाला भागवत (भगवान् के लिये ही जीने–वाला भक्त) को भक्ति–वैराग्य–भगवज्ज्ञान–निश्चित प्राप्त होते हैं, उससे साक्षात् परम शान्तिको वह निकटमें प्राप्त होता है।

✶

सुलभ शान्ति

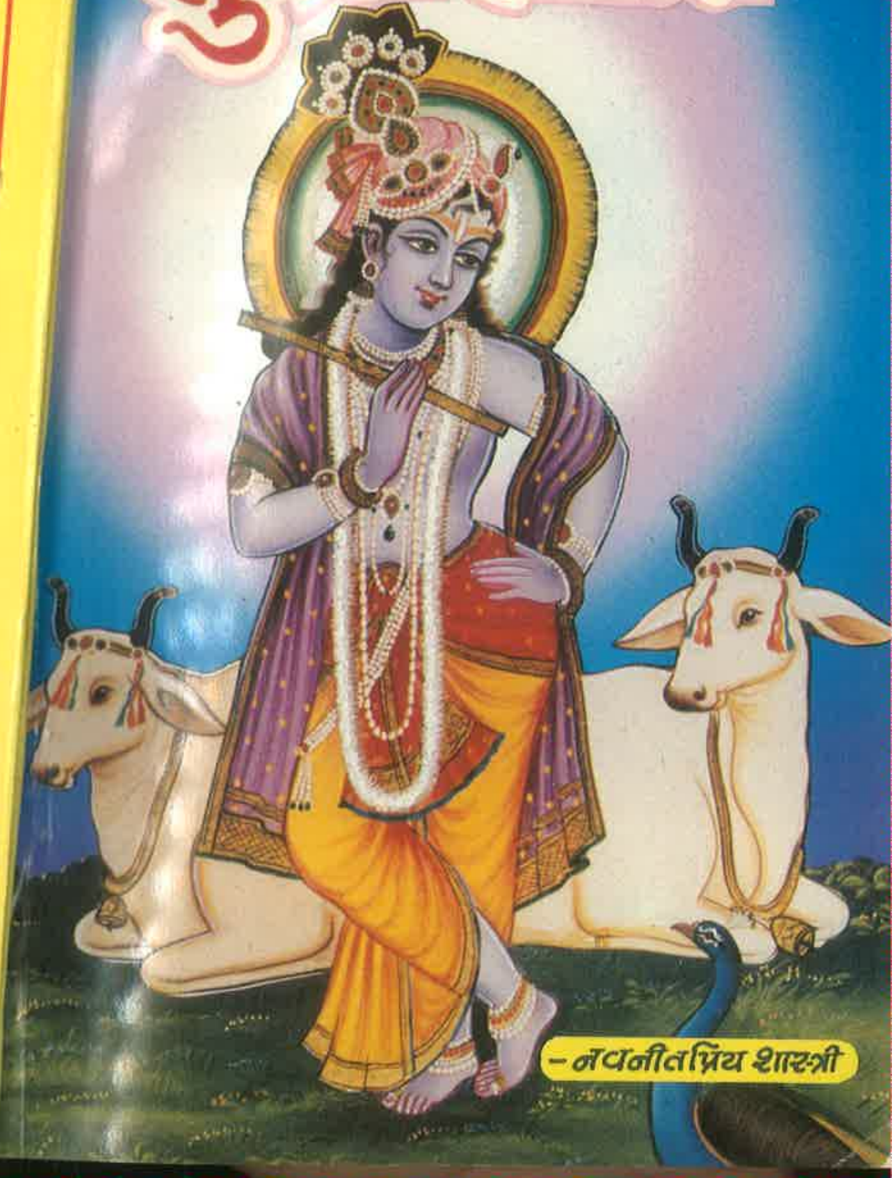

–नवनीतप्रिय शास्त्री

श्रीहरिः

“॥ सा विद्या तन्मतिर्यया ॥”

सुलभ–शान्ति

(श्रीमद्–वल्लभाचार्यजीका जीवन–चरित्र
और
पुष्टिमार्ग–साकार ब्रह्मवाद–शुद्धाद्वैत–संप्रदाय)

: निरूपक :
भागवतभूषण, भागवतरत्न, भगवच्छास्त्रनिष्णात
नवनीतप्रिय जेठालाल शास्त्री
वल्लभवेदान्ताचार्य (प्रदत्त–सुवर्णचन्द्रक), काव्यतीर्थ
सिविल एन्जीनीअर

: प्रकाशक :
“विद्यानिधि” (ट्रस्ट) नडीआद
सौजन्य : श्रीभागवत–परिवार
(दुबई)

श्रीहरिः

प्रकाशक : “विद्यानिधि” (ट्रस्ट)
“व्रजविहार”, मोटीपोल, मोदीसांथ,
नडीआद – ३८७००१; (जि. खेडा), (गुजरात)
फोन नं : ५०९०८

: न्योछावर :

रू. २०–००

वी. पी. नहि होगा, भेजने का खर्च अलग

इस ग्रन्थ के सर्वाधिकार संपादकको स्वाधीन है ।

पंचमावृत्ति प्रत–३००० वि. सं. २०५१, इ. स. १९९५

: ग्रन्थप्राप्ति स्थान :

श्रीनवनीतप्रिय शास्त्री
ठि. “व्रजविहार”,
मोटीपोळ, मोदीसांथ,
मु. नडीआद – ३८७ ००१
(जि. खेडा)
फोन नं. ५०९०८

श्रीविट्ठलदासभाई काराणी
ठि. “नन्दालय” – प्लोट नं. २०
हाटकेश को. ओ. हा. सोसाइटी
जुहुस्कीम – छठ्ठो रस्तो
वीले – पार्ले (वेस्ट)
मु. मुंबइ – ४०० ०५६
फोन नं. ६१२१६०१, ६१४६७०५

श्रीपीयूषभाइ शाह
ठि. “हरिकुंज”
सी. अेन. विद्यालय सामे,
आंबावाडी, मु. अमदावाद – ३८० ००६
फोन नं. ४४४००८

सौ. नीता पटेल
ठि. “कलानिधि”
ठि. जी. अेफ.–९, विन्डसर प्लाझा
आर. सी. दत्त रोड,
मु. वडोदरा ३९०००५
फोन : (ओ.) ३२०२३५ (घ.) ३२०७८९

श्रीमति मधुकान्ताबहन शाह
(गोल्डफिल्डवाले)
ठि. राचंदनमलमेन्शन,
बीजे माळे, भोगवाडी के सामने,
कालबादेवी,
मु. मुंबइ – ४०० ००२
फोन नं. २०१२७१५

श्रीवैकुंठभाइ भगत
ठि. झवेरी महोल्लो
मु. भरूच – ३९२ ००१

विदेशमां :१. सौ. रेखा राज सिंगापुर फोन नं. ४४८ – २३२४
२. श्रीमति विमळाबहन अमीन अमेरिका फोन नं. (२०१) ७३६–३९६४
३. सौ. मंजु काराणी दुबइ फोन नं. ७१४ – ४५४३६१

मुद्रक : श्रीयोगिनभाइ परीख, न्यु-टेक. फोटो कम्पोझर नडीआद फोन : २४६०६

श्रीहरिः

“सा विद्या तन्मतिर्यया ।”

“विद्यानिधि” ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित इस निरुपक के अन्य ग्रंथ

	ग्रंथ के नाम	**न्योछावर (टपालखर्च अलग) रु.**
१.	श्रीमद्–भागवत–रसास्वाद (तृतीयावृत्ति)	२००–००
२.	सुमंगल–नवनीत–संचय	–
३.	सुलभ–शान्ति	२–००
४.	कराल कलिकाल में कल्याण	१–००
५.	त्रिविध–नामावली	२–५०
६.	दुःख–दयाका दान	१–५०
७.	सुलभ–शान्ति (पुरानी) (हिन्दी)	२–००
८.	जीवन–मंगल	२–००
९.	श्रीपुरुषोत्तम–नाम–सहस्र–स्तोत्र (पुरानी आवृत्ति)	४–००
१०.	श्रीपुरुषोत्तम–नाम–सहस्र–स्तोत्र (नई आवृत्ति)	२५–००
११.	पत्र–परिमल	८–००
१२.	व्रज–विहार	२५–००
१३.	श्रीमद्–भागवत–प्रथम दृष्टिमें (हिन्दी)	–
१४.	श्रीमद्–भागवत में अद्भुत–विज्ञान–विहार (संस्कृत–गुजराती–अंग्रेजी)	१००–००
१५.	गीता–गुंजन (हिन्दी)	७०–००
१६.	पुष्टि–पुलिन	२००–००
१७.	कुर्यात् सदा मङ्गलम्	२०–००

होनेवाले प्रकाशने : (१) सरल श्रीभागवत, (२) श्रीभागवत
(श्रीमहाप्रभुजी–संमत पाठभेद–युक्त),
(३) श्रीमद्–भागवतान्वयार्थ ; दूसरे अनेक

अन्यत्र से प्रकाशित : (१) श्रीस्वामिन्यष्टकम् , (२) गुप्तरस,
(३) श्रीमद्–भागवत–प्रथम नजरे,
(४) पुष्टि–मार्ग, (५) पुष्टि–मंगल,
(६) द्विज–दिव्यता, (७) संग्रह–कुंज

। श्रीहरिः ।

"सुलभ–शान्ति"

(पाँचवी आवृत्ति)

संवेदन–निवेदन

सृष्टिमें सर्जित प्राणी मात्र चाहते हैं,– शान्ति ! दुर्लभ है,– शान्ति ! सुलभ है,– अशान्ति ! शान्ति चाहिये तो हमको स्वयं को ही शान्त रहना चाहिये । शान्ति बाह्य–साधन–वस्तु– व्यक्ति–परिस्थिति–प्रसंगादि में से सुलभ नहीं है । शान्ति अपने ही अन्दरसे उपलब्ध होती है । बाह्य–साधनादि से प्राप्त हुई शान्ति क्षणिक होती है,– सामान्य होती है । शान्त– स्वान्तः में से उपलब्ध शान्ति लाक्षणिक होती है,– मध्यम कक्षा की होती है । भगवदनुवृत्ति से सुलभ शान्ति विलक्षण होती है,– उत्तम होती है । तदर्थ शास्त्रको स्पष्ट समझकर, अपने मन–वाणी–देह से भगवत्सेवा–कथा–शरणागति करनी आवश्यक है ।

वेद–गीता–ब्रह्मसूत्र–श्रीमद्भागवत, यह प्रस्थान–चतुष्टयी तो एकवाक्यतासे कृष्ण एवं कृष्णसेवाका ही प्रतिपादन करती है । १. वेदः – "**ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति, ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति, ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति ।**"– बृहदारण्यक– (१–६–१, २, ३) ब्रह्म ही यह नामों को धारण करता है, ब्रह्म ही सब रूपों को धारण करता है, ब्रह्म ही यह सब कर्मोंको धारण करता

है । वेदादि में भिन्न भिन्न रूप–नाम–कर्मके वर्णन उपलब्ध होते हैं, परन्तु इनमें भिन्नता नहीं है । एक और अद्वितीय ब्रह्म ही स्वेच्छा से, स्वलीलाके लिये, यह सब विविध रूप–नाम–कर्मोंको धारण करता हुआ क्रीडा कर रहा है । लोके में भी वस्तु–व्यक्ति–(जड–चेतन–अंतर्यामी) सबकुछ ब्रह्मके ही रूप–नाम–विभेद हैं । इस विभेदसे जो जगद्रूप है, जिससे जगत् है, जो क्रीडा कर रहा है,– वह सर्वतंत्र–स्वतंत्र, अद्भुतकर्मा, भगवान् कृष्ण ही है । ऐसे सर्वत्र **कृष्ण–प्रतिपादन** है ।

"**तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाऽभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ।**" – केनोपनिषत् (४–६). वह ब्रह्म स्पष्ट है, वह अपने सहजदास–रूप जीवमात्र के लिये वनरूप–वननीय–संभजनीय–संसेवनीय–है । ("**वन संभक्तौ**"– धातुपाठ है ।) अथवा लीला–परिकर–सहित श्रीकृष्ण, महावन–वृन्दावन–नामसे प्रसिद्ध वन (जहाँ नित्य भगवल्लीला चल रही है, उस स्थान में रहकर, उसकी उसमें मन लगाकर, (लीलाविशिष्ट–नाम–रूपके स्मरण–सेवन–रूप) उपासना करनी जरूरी है । वह उपासक जो (ऐसा) अधिकारी है यह, इस ब्रह्मको वन रूपसे जानता है,– उपासना (निकटमें रह कर प्रेमपूर्वक सेवा) करता है, प्रसिद्ध है कि वह उपासक (भक्त–सेवक) को सब (लोग) – प्राणीमात्र (सत्संगार्थ) चाहते हैं । "**भर्ता संभ्रियमाणो बिभर्ति ।**" – (तै. आ.

३/१४). स्वामी भगवान् भरण–पोषण किया जा रहा हुआ (सेव्य), भरणपोषण करता है। एसे **सर्वत्र कृष्ण सेवा–प्रतिपादन** है।

२. गीताजीः – **“वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो....”** (१५–१५), **“यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।”** (१५–१७), **“अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।”** (१५–१८), **“विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।”**– (१०–४२), **“वासुदेवः सर्वम्।”**–(७–१९), सब वेदों से मैं ही वेद्य हूँ,.... जो अव्यय ईश्वर लोकत्रय में आविष्ट होकर धारण–पोषण–करता है,.... इसलिये लोकमें और वेदमें मैं – **“पुरुषोत्तम”**– प्रथित हूँ,.... यह समग्र जगतको एकांश मात्र से धारण करके मैं (श्रीकृष्ण) स्थित हूँ. ।.... वासुदेव सबकुछ है,– आदिवाक्यों से सर्वरूप से **कृष्ण** ही हैं, **प्रतिपाद्य** है।

“मन्मना भव मद्भक्तो.....।”– (९–३४), (१८–६५), **“सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेक शरणं व्रज ।”** (१८–६६)– मेरे में (मद्रूप) मनवाला तू हो, मेरा भक्त (प्रेमपूर्वक सेवा करनेवाला) (हो); सर्वधर्मको छोडकर तू मेरी एककी शरण में आ ।” ऐसे कृष्ण–सेवा का प्रतिपादन है।

३. ब्रह्मसूत्र : – **“अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा ।”** – (१–१–१),– (त्रैवर्णिक) अधिकारियोंको, (ब्रह्मज्ञान पुरुषार्थ साधक है), इसलिये ब्रह्मसंबंधी सर्वविचार करना आवश्यक है। इस प्रतिज्ञा से ही स्पष्टतया यहाँ

ब्रह्म–परमात्मा–भगवान् **श्रीकृष्ण–प्रतिपाद्य** है।

“कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः।”– (३–३–३९), और **“कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः।”** (३–४–४७). माहात्म्यज्ञानयुत ईश्वरत्व से प्रभुमें निरुपधि–स्नेहात्मिका भक्ति **विहिता** है, और प्रमाणान्तरसे अप्राप्त होने से कामादि–उपाधिजा भक्ति **अविहिता** है । उभयत्र भगवत्संबंध मात्र ही मोक्षासाधक है। शास्त्रमें सर्वथा हेय माने गये गृह भी, सर्व निवेदनपूर्वक गृहमें भगवत्सेवा करनेवालेको तो सेवोपयोगी होनेसे वह भगवद्गृह है, **“आयतन”** है। स्त्री–पुत्र–पशु–धनादि भी भगवत्संबंधी हैं । यह तो कर्म–ज्ञानादि मार्ग से सेवामार्गका उत्कर्ष है। माहात्म्य ज्ञानपूर्वक–स्नेह होने पर, स्वामिरूप से प्रभुका ज्ञान होने पर, काम भी संभव है। **“आचार्यकुलाद् कुटुम्बे.......”** (छान्दोग्य ८–१५–१) श्रुतिका भार पुष्टि–सेवामें दिखता है,– त्यागमें तो वाणी–मनका ही भगवानमें विनियोग होता है । गृहस्थाश्रममें तो कुटुम्ब–सहित सेवा–करने से सर्वेन्द्रियोंका भगवानमें विनियोग होता है। परिजन भी कृतार्थ होते हैं। इसलिये श्रुतिमें गृहीसे उपसंहार किया है। वह भी मर्यादामार्गीय एवं कर्ममार्गीय नहीं, परंतु पुष्टि–भक्तिमार्गीय है । इसमें व्यसनदशा में ही गृहत्याग आवश्यक है, यह तो दुर्लभाधिकार है। अतः उसके पूर्व तो अपने घरमें ही रह कर सेवा करनी जरूरी है । इस प्रकार ब्रह्मसूत्रमें भी गृह में **कृष्ण–सेवाका प्रतिपादन** है।

४. **श्रीभागवतः** – "**मुनयः साधु पृष्टोऽहं.....यत्कृतः कृष्णसंप्रश्नो......**"-(१-२-५), "**वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् । ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥**"– (१-२-११). मुनिलोग मैं अच्छा पूछा गया हूं– जो कृष्ण संप्रश्न किया है जिससे आत्मा सुप्रसन्न होती है । तत्त्वज्ञ लोग "**तत्त्व**"– उसको कहते है, जिसका अद्वयज्ञान है; श्रुतियों में जिसको "**ब्रह्म**"– गीतादि स्मृतियों में – "**परमात्मा**" और श्रीभागवतादि पुराणमें "**भगवान्**" कहा गया है । ऐसे यहां परब्रह्म-परमात्मा- भगवान् **श्रीकृष्णका प्रतिपादन** है ।

"**स वै पुसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।**" (१-२-६). "**अशेष-संक्लेश-शमं विधत्ते.......परागसेवा रतिरामलब्धा ॥**" – (३-७-१४). मानवका यही परम धर्म है, जिससे पुरुषोत्तम भगवान् अधोक्षज श्रीकृष्ण में हेतुरहित, अप्रतिहता भक्ति हो ।– मुरारि भगवान् श्रीकृष्णके गुणानुवाद-श्रवण अशेष-संक्लेशोंका शमन कर देता है, तो उनके चरणारविन्दके पराग (भक्तादि)की सेवा जो हृदय-प्रेमलब्ध है वह (क्लेश बाकी न रहने से) कहाँ से करेगी ?! अर्थात्, कृष्णकथाश्रवण ही सब क्लेशों को दूर कर देता है, तो कृष्णसेवा क्या नहीं करेगी ?! "**कृष्णांघ्रिसेवा-मधिमन्यमानः......।**" – (१-१९-५) कृष्ण-चरण सेवाको ही सबसे अधिक मान कर ही महाराज परीक्षित प्रायोपवेश-पूर्वक कथाश्रवणके लिये गंगा तट पर बैठे

हैं । ऐसे श्रीभागवतमें भी **कृष्णसेवा** ही स्वाभाविक रूपमें **प्रतिपादित** है ।

श्रीमहाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यजी स्पष्ट आज्ञा करते हैं,-"**सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् । यावज्जीवं तस्यनाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥**"– भक्तिवर्धिनी (९) – सेवा और (अथवा) कथामें जिसकी आसक्ति आजीवन दृढ हो उसका नाश कभी भी (कहीं भी) नहीं होता है । सेवा- कथाके निमित्तसे कृष्ण-स्वरूपासक्तिकी दृढतासे भी ऐसे मार्ग भ्रष्टता नहीं होती है ।

अन्य सब आचार्योंके मतसे भी विशिष्टता है,- श्रीमहाप्रभुजी श्रीवल्लभाचार्यजी के मतकी । सबके मत, यद्यपि प्रस्थान-त्रयीके अवलंबनसे सिद्ध कहे जाने पर भी, ऐसी प्रमाण पुष्टता उन सबमें नहीं दिखती जितनी प्रस्थान चतुष्टयावलंबी श्रीवल्लभाचार्यजीके मत में है ।

किसीने समालोचनाके नाम पर अपने मताज्ञानवश कुछ आक्षेप किये हैं । प्रत्युत्तरार्थ संक्षेपमें स्पष्टता से स्वसिद्धान्त यहाँ प्रस्तुत करते हैं । जिससे अकारण विस्तार न हो जाय, एवं प्राथमिक सिद्धान्त-जिज्ञासुओंको याथार्थ्य सुलभ हो ।

"**प्रपञ्चो भगवत्कार्यस्तद्रूपो माययाऽभवत् ।**" – से लेकर "**सायुज्यं वान्यथा तस्मिन्नुभयं हरिसेवया ॥**"– शास्त्रार्थ प्रकरण-(२३ से ३६ तक) ग्रन्थदर्शनसे स्फुट होता है ।

यह प्रपञ्च (एकमें से अनेकरूप होनेकी स्वलीलेच्छासे हुआ ब्रह्मका विस्तार, जगत्) न प्राकृत है, न परमाणुजन्य है, न विवर्तरूप है, न अदृष्ट–स्वभाव–वासनादि–द्वारा हुआ है, न असत् की सत्ता–रूप है, परन्तु भगवत्कार्य है । परमकाष्ठा– पन्न वस्तु (भगवान)की कृतिसे साध्य है । ऐसा होने पर भी भगवद्रूप है । ब्रह्म ही इस जगतका अभिन्न–निमित्तोपादान– कारण है । अन्यथा असत् की सत्ता हो जाय ! ऐसा तो नहीं हैं । ब्रह्म ही अपनी आविर्भाव–तिरोभाव शक्तियाँ द्वारा अपनी लीलाके लिये जगद्रूप में आविर्भूत होता है, तिरोभूत भी होता है । सृष्टि–प्रक्रियामें – "**सोऽकामयत, तदैक्षत**"– आदिसे ब्रह्मेच्छा ही निमित्त है, और "**सदेव सोम्येदं**" – "**तदात्मानं स्वयमकुरुत ।**" तैत्तिरीय (२–७–१) – से ब्रह्म ही उपादान कारण है । इस प्रकार, मायादि–साधन–निरपेक्ष परमकाष्ठापन्न ब्रह्म ही स्वात्मभूत जगत् करता है । वैदिक–सिद्धान्त तो इतना ही है । वैष्णव–सिद्धान्त पाञ्चरात्र–श्रीभगवतादि–के अनुसार कुछ साधन प्रकार भेदसे अधिक कहा है; वह है,– माया से ब्रह्म जगद्रूप बनता है । यह साधनरूपा माया ब्रह्म–स्वरूप से भिन्न अन्य कोई वस्तु नहीं है, माया निश्चितरूप से भगवानकी सर्वभवन–सामर्थ्यरूपा शक्ति है, भगवानमें ही स्थित है । जैसे पुरुषका कर्म करनेका सामर्थ्य होता है । इससे स्वसामर्थ्य से, अन्य पर आधार रखे बिना ही, ब्रह्म स्वात्मरूप प्रपंच करता है । माया को स्वीकारने पर भी, साधनरूपा माया

ब्रह्म–स्वरूप से भिन्न न होने से, ब्रह्मही जगतका अभिन्न– निमित्तोपादान–कारण है । यह फलित होता है ।

घटित एवं पूरित–पात्र–भेदकी तरह वैदिक–पौराणिक–जगत् का भेद है । जगत् मिथ्या तो नहीं ही है । संचायक (Mould) रीति से प्रतिमा–निर्माणके लिये सुवर्णजल जैसे संचायक (Mould) में ढाला जाता है, वही सुवर्ण संचायक (बीबा) के सदृश प्रतिमाकार बनता है; वैसे ही स्थूल–सूक्ष्म–कार्य–रूपा मायाको संचायकरूपा (Mould) बनाकर भगवान् अपनेको विश्वरूप बनाते हैं । इसमें प्रतिमा सुवर्णरूपा ही होती है, संचायक (Mould) रूपा नहीं, वा अन्य वस्तुरूपा नहीं । वैसे ही संचायक (Mould) रूपा साधन–रूपा मायासे भगवन्निर्मित जगत् भी भगवद्रूप ही होता है । घटित प्रतिमा जैसे सुवर्णात्मिका होती है, वैसे ही पूरित–संचायक– प्रतिमा भी सुवर्णरूपा ही होती है । बनानेके प्रक्रिया–प्रकारमें भेद होता है, बने हुए सुवर्ण–प्रतिमा–रूपमें नहीं, जगतमें नहीं ।

यहाँ सबको संसार और प्रपंचका भेद ज्ञात न होने से किसीको मोह हो जाता है । भगवानकी शक्ति अविद्यासे तो इस जीवका संसार कहा जाता है, उत्पन्न होता नहीं है । यह संसार तो जीवकी मान्यता–अहंता–ममता–रूप है । यह संसार ही **असत्** है, **भ्रम** है, **अज्ञान** है, प्रपंच नहीं । संसार ही अविद्यात्मक है, प्रपंच तो ब्रह्मात्मक है । अविद्या

भगवानकी मुख्य बारह शक्तियाँ में गिनी गइ है,– १. **श्री,** २. **पुष्टि,** ३. **वाणी** (सरस्वती), ४. **कान्ति,** ५. **कीर्ति,** ६. **तुष्टि,** ७. **इला** (भूमि), ८. **ऊर्जा** (सर्वसामर्थ्य), ९. **विद्या,** १०. **अविद्या,** ११. (इच्छा) **शक्ति,** १२. (सर्वभवन–सामर्थ्य और व्यामोहिका) **माया**– इनसे भगवान् सेवित हैं । इस प्रकारसे, "**स वै नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत् स हैतावानास ।**" बृहदारण्यकोपनिषत् (१–४–३) – इस श्रुतिमें रमणके लिये ही भगवानका प्रपंचरूप से आविर्भाव कहा है, और वह रमण विचित्रताके बिना असंभव है, इसलिये यह भगवानकी शक्ति अविद्यासे जीवका संसार कहा गया है, उत्पन्न नहीं होता है, अभिमतिरूप है । संसार का उपादान कारण नहीं है, करण (साधन) अविद्या है, प्रपंचका कारण तो भगवान् ही है, माया तो करण (साधन) है । इस प्रकार संसार–जगत् दोनों भिन्न ही है ।

वास्तवमें तो, "**स वै नैव रेमे ।**"– इत्यादि श्रुतियों से रमणके लिये ही ब्रह्मके ही प्रपंच–रूपसे आविर्भावके कारण तदन्तःपाति–पुरुष–रूपसे, तत्कृत–साधन–रूपसे, आविर्भूत हो करके, तत्फल–रूपसे भी आविर्भूत होते हुए, भगवान् क्रीडा करते हैं । ऐसा होने पर, "मैं यह कर्मकर्ता हूँ, तज्जनितफल मेरा है, मैं उसका भोक्ता हूँ,"– इत्यादि भान तो अपना, अपनी क्रियाका, उसके फलका अब्रह्मरूपसे भान (ज्ञान) होनेसे होता है, वह भ्रमरूप

है । वह तो अहंता–ममतात्मक है,– संसार है, अविद्यासे (कराया) हुआ है । तत्त्वज्ञान होने से उक्तरूप (भान) ज्ञान निवृत्त होता है, प्रपंच तो ब्रह्मात्मक होने से निवृत नहीं होता है ।

श्रुतिसे ही प्रपंचकी ब्रह्मरूपता कही गई है । अतः प्रपंच नित्य होनेसे आविर्भाव–तिरोभाव कहे हैं । वे दोनों विद्यमान वस्तुके ही होते हैं, असत् (अविद्यमान) के नहीं । सत्की असत्ता नहीं है, और असत्की सत्ता नहीं है । वैसे ही संसार अविद्यासे होता है, अविद्याहेतुक है,– ऐसा ही श्रुति कहती है । प्रपंचकी तरह उसकी ब्रह्मरूपता कहती नहीं है । प्रपंच रूपसे आविर्भाव कहकर, अविद्यासे जो संसार कहा है, और विद्यासे उस संसारका अभाव भी कहा है, इससे संसारका प्रपंचसे भेद अवश्य स्वीकार करना चाहिये । ऐसा होने पर, संसारका असत्त्व – असत्यत्व – ही सिद्ध होता है । संसार और प्रपंचके कारण भिन्न होने से, संसार प्रपंच–मध्यपाती नहीं है । शास्त्रमें यह यौक्तिक (युक्तिसिद्ध) नहीं है, परंतु श्रौत (श्रुतिसिद्ध) है । आस्तिक लोगोंको ऐसा स्वीकारना चाहिये ।

संसारका स्वरूप ज्ञान–पर्यंत ही रहता है । जीवन्मुक्तिमें संसारका लय (अभिभव–शान्तता) होता है, प्रपंचका कभी नहीं । उत्पत्ति–प्रलयमें भिन्न प्रकार होने से प्रपंच–संसार में भेद है । श्रीकृष्णकी आत्मरतिमें, जब वह प्रपंचको अपनेमें ही लय करके क्रीडा करते हैं तब, प्रपंचका लय सर्व–सुख–प्रापक

होता है । यह जीव–ब्रह्म मुक्तिप्रकार नहीं है, जीवों के सुख के लिये भगवान्, रात्रिकी तरह, प्रपंच–प्रलय करते हैं । भगवदिच्छा ही प्रपंचकी उत्पत्ति और प्रलयमें कारणरूप है ।

जीवके संसारमें कारणभूता अविद्या पंचपर्वा है । वह जीवमें रही हुई है, मायासे उत्पन्न हुई है । उसके सर्वांश दूर होने से वह दूर होती है । इसलिये भगवद्–भजन करना जरूरी है । यह अविद्या जीवको ही प्राप्त होती है, अन्य अंश जडादिको नहीं, ब्रह्मको नहीं । मायासे उत्पन्न होनेसे अविद्या दुर्बल है ।

ब्रह्म तो निश्चितरूपसे आकाशवद् व्यापक है । लोक–दृष्टिसे आकाशका दृष्टान्त व्यापकता समझानेके लिये है । ब्रह्मकी व्यापकता उसके बृहद् होने से है । अन्यथा “ब्रह्म”– शब्दप्रयोग ही व्यर्थ होता है । अपने आत्मरमणके बाद सृष्टि–प्रारंभदशामें ब्रह्म का व्यापकत्व तिरोहित जैसा होता है, मायासे ऐसा परिच्छिन्न भाव (रूप ब्रह्मधर्म) होता है, इससे ब्रह्मनिजांश वेष्टित (व्याप्त) होता है । प्रपंच–साधन–भूत मायाका यह प्राथमिक उपयोग है । निर्धर्मक ही ब्रह्म पूर्वमें धर्मरूप से, उसके बाद में क्रिया–प्रपंचादिरूपसे आविर्भूत होता है । इस व्यवस्थासे पहले इच्छा–रूपसे, बादमें मायारूपसे, होकर उससे व्यापकत्वको तिरोहित करके, देशको प्रकट करके, मायासे अंशोंको परिच्छिन्न करके, उनसे ब्रह्म व्याप्त होता है । इस प्रकार, यह सत्य

अद्वैतवादमें सबकी ब्रह्मात्मकतासे जड–जीव–अन्तर्यामी–रूपसे ब्रह्म ही लीला करता है । प्रदेश–विशेष–रूपसे आविर्भूत हो करके ब्रह्म स्वयमेव अंशरूपसे अपने में से ही निःसृत होता है । निःसरणका उपादान– अधिकरण–कर्तृ–सब कुछ भी ब्रह्म ही है । इस प्रकार ब्रह्मके व्यापकत्वमें भी उसमें से निःसरण औपाधिक (किसी उपाधिसे) नहीं है; परंतु जिस प्रदेशमें जिसमें से, जिनका निःसरण (व्युच्चरण) है, वे सब ब्रह्म ही है ।

वह ब्रह्म सर्वतः पाणिपादान्त है, सर्वतः अक्षि–शिरो–मुख –वाला है । गीताजीमें यह कहा गया है । सर्वत्र प्रदेशमें ब्रह्मके हस्त–चरण–अन्त हैं । सर्वत्र विद्यमान साकार ब्रह्म–पुरुषोत्तम– की सर्व व्यापकतासे उसके अवयवादि भी सर्वत्र व्यापक कहे गये हैं । इससे पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी सर्वोत्तम सर्वसुन्दरता न्यून नहीं होती है । पग–हाथ के सर्वत्र होने से गति–कृति–लक्षणवाली क्रिया (लीला–सेवा–स्वीकार) स्वेच्छासे सर्वत्र है, परिच्छेद (मर्यादा–विभाग) का भान भी भगवदिच्छासे होता है । सर्वत्र नेत्र–शिर–मुख–होनेसे ज्ञानकी प्रधानता और भोग भी भगवानका सर्वत्र है । यह स्वरूप कह कर, नाम (कथा) प्रपंचके लिये कहा है,– यह साकार–ब्रह्म, सर्वतः कर्णवाला है, सर्वत्र सुनता है । सबको वह आच्छादित करके रहता है । जगतमें व्याप्त होकर रहता है । ये धर्म प्रपंचकी उत्पत्तिके बाद ही लोकमें स्पष्ट होते है, फिर भी ये सब धर्म

नित्य होनेसे, नित्यता बतानेके लिये, प्रथमसे कहे हैं । यह **“सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म”** – ब्रह्म अनन्तमूर्ति-(स्वरूप) वाला है, यही सर्वत्र परिच्छेद (सीमित रूप होने)का प्रयोजन है । यह निश्चित है । यह सच्चिदानन्द ब्रह्म अविभक्त है और विभागवाला भी है । उसको मायाकी अपेक्षा नहीं है । वह स्वयं सर्वविरुद्ध-धर्मोंका आधार है । ब्रह्मकी अनन्त मूर्तियों (स्वरूपो) में भी परस्पर विभेद नहीं है । सर्व-इन्द्रियोंवाला, उनके ग्राह्य-गुणवाला ब्रह्म है । केवल स्वेच्छासे ही, इतने मात्र रूपसे प्रकट होनके लिये, ब्रह्म विभागवाला होता है ।

ऐसे स्वरूपवाले ब्रह्ममें से सृष्टि होनेमें उसकी इच्छा ही कारणरूपा है । उस ब्रह्म को इच्छा हुई,– मैं बहु रूप हो जाऊँ, प्रकर्षसे उच्चनीच भावसे प्रकट हो जाऊँ । उसकी यह भावना (इच्छा-वीक्षा) निश्चित है, बदलती नहीं है ।

उसकी इच्छा-मात्रसे, उसके स्वरूपमें ब्रह्मभूत अंश– चेतन-प्रथम सृष्टिके आरंभमें निकले । सब उसकी इच्छासे निराकार हुए । योगबलसे वे प्रकट नहीं हुए हैं । साकार ब्रह्मके अंश होने से वे सब असंख्य अंश साकार-सूक्ष्म-परिच्छेदवाले हुए । वे सब चेतन हैं,– चित्-प्रधानतावाले हुए । **“चित्”** उनका मुख्य स्वरूप है, और **“चित्”** धर्म भी है । सच्चिदानन्द-ब्रह्ममें चित्-स्वरूप भी है और **“ज्ञान”** धर्म भी है, अतः वे भी ऐसे ही हुए । अतः चिदंशसे हुए वे **“चित्”**-अंशात्मक जीवोंमें “सत्”- “आनन्द”- गौण रूप से – अव्यक्त है ही । ऐसे ही सदंश से हुए **“सत्”** – मुख्यतावालों में, जडमें, **“चित्”- “आनन्द”** अव्यक्त है;– और आनन्दांश से हुए **“आनन्द”**- मुख्यता-वालोमें, अन्तर्यामी में, **“सत्-चित्”** – अव्यक्त हैं । वह साकार-ब्रह्ममें से प्रकट हुए साकार भगवद्रूप अंश (जीव) भी निर्गत होनेसे आनन्दांश के तिरोधानसे निराकार हुए । उनमें चतुर्भुजत्वादि भगवदाकार नहीं रहे ।

“यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुल्लिगा व्युच्चरन्ति....।” बृहदारण्यक (२-१-२०)-श्रुति है । जैसे अग्निमें से तिनखे निकले वैसे ही (ब्रह्मके चिदंशमें से) जीवोंका उद्गम हुआ । ब्रह्मके सदंशसे सत्प्रधानतावाले जड-पदार्थ भी हुए । ब्रह्मके आनन्दांश से आनन्द-मुख्यता-वाले अन्तर्यामी भी हुए । जैसे जीव भिन्न भिन्न हैं, वैसे अन्तर्यामी भी भिन्न भिन्न हैं । प्रत्येक हृदयमें हंसरूपसे जीव और अन्तर्यामी दोनों का प्रवेश है । भेद तो जीवमें भी नहीं है, तो अन्तर्यामी में कहाँ से हो ? अंशांशि-भावसे अभेद ही है । स्वरूपसे विजातीयता हुई; ऐसे ही नामसे भी विजातीयता हुई । सब भगवद्रूप होने पर भी जड-जीव-अन्तर्यामी-शब्दप्रयोगसे व्यवहार होता है ।

भगवानकी मायासे विनिर्मित भगवानकी दो शक्तियाँ हैं,– १. विद्या, २. अविद्या । ये जीव-संबंधिनी ही हैं, जड-अन्तर्यामी-की नहीं । मोक्ष भी एक सर्ग है,

इस प्रकार विद्याका भी निरूपण है । जीवकी चित्-प्रधानता है, अतः विद्यासे स्वरूपस्थिति स्वरूपलाभ है,- अन्यथारूप देहलाभ है,- वह अविद्या से है । विद्या-अविद्या दोनों जीवधर्म रूपा नहीं है, भगवान् की शक्तियाँ है । अतः भगवदिच्छा से ही दोनों का आविर्भाव तिरोभाव होता है । “**एष उ एव साधु कर्म कारयति.....।**” कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत् (३-९)-श्रुतिसे भगवान् जिसको उन्नत बनाना चाहते हैं, उससे अच्छे कर्म करवाते हैं, जिसका अधःपतन चाहते हैं, उससे असत्कर्म करवाते हैं । सब भगवदिच्छा पर आधारित है । विद्या-अविद्या दोनों मायानिर्मित होने से मायाधीन है । “**मामेव ये प्रपद्यन्ते.....**” - गीतावाक्य से, शरणागति से भक्ति होने से माया तैरने पर अविद्या और विद्या भी दूर हो जाती है । अन्यथा नित्यमुक्तता नहीं होती है । विद्या-अविद्या चिदंश जीवको होती है, जड वा अन्तर्यामीको नहीं; और इससे जीवको ही दुःखित्व और असामर्थ्य प्राप्त होता है ।

अविद्याके पांच पर्व है,- १. अन्तःकरणाध्यास, २. प्राणाध्यास, ३. इन्द्रियाध्यास, ४. देहाध्यास, ५. स्वरूप-विस्मृति । इसके संपूर्ण होने पर अन्य धर्मो से बद्ध जीव संसार-जन्ममरण-को प्राप्त होता है । विद्यासे अविद्याका नाश होने पर तो जीव मुक्त होगा । निद्राकी तरह अविद्या दूर होने पर जीवको जन्म-मरण प्राप्त नहीं होते । तब उसी जन्ममें गृहीत देह-इन्द्रिय प्राणादि सब अध्यास-रहित होते ही जीव मुक्त होता है । तब भी देहादिकका विलय नहीं होता है । अध्यास

ही दूर होता है । स्वरूप नष्ट नही होता है, क्योंकि वह तो प्रपंच मध्यपाती है । जीवन्मुक्तको अपनी बुद्धिसे देहादिकका लीनवत् प्रतिभान होने पर भी सबकी बुद्धिसे ऐसा भान नहीं होता है । देहादिकी स्थितिमें सुप्त-प्रतिबुद्ध-न्यायसे कदाचित् पुनः अध्यास हो, इससे जीवन्मुक्तके देहादिकको लय-प्रकार है- १. आसन्य-प्राण-सेवा, अथवा, २. हरि-सेवा । इससे इन्द्रियोंको देवभाव प्राप्त होने पर देहादिकका लय होता है, और अपनेमें ब्रह्मभावसे लय होता है । आसन्य (मुख्य) (विराट्के) प्राणकी सेवामें इन्द्रियोंका देवभाव होता है । हरि श्रीकृष्णकी सेवा से सर्व फल होता है । यह भगवच्छास्त्र-सिद्धान्त है ।

भगवानका मुख अग्नि-रूप है । अपनी वाग-इन्द्रिय- अग्नि रूप बने तो भगवन्मुखताको प्राप्त हो । ऐसे (आध्यात्मिक) सर्वेन्द्रियमें आधिदैविकत्व होने पर संघात (शरीरेन्द्रिय-समूह) का लय होता है । अगर अपना जीवभाव रहे तो अन्य संघात प्राप्त करावे । अतः “ब्रह्मभाव”- शब्द कहा है ।

तिरोहित आनन्दांशके प्रकाशसे (आविर्भावसे) ही ब्रह्मभाव होगा । ऐसे जडमें भी होता है । इसमें केवल भगवदिच्छा ही नियामिका है । अतः उसकी अनियततासे सायुज्य-मोक्ष होता है । नहीं तो संघातमें प्राप्त होता है । सायुज्य और ब्रह्मभाव हरि-सेवासे ही प्राप्त होते हैं, अन्य सेवासे नहीं । भगवदवज्ञा से पतन होता है । अतः आसन्यकी सेवाको छोडकर भगवानकी ही सेवा करनी चाहिये ।

इस सबसे सिद्ध होता है कि–, १. जीवका अहंता–ममतात्मक संसार ही अविद्यासे होता है, वही मिथ्या है । २. वह संसार न भगवत्स्वरूपात्मक है; वा न त्रिगुणात्मक है । ३. भगवदिच्छा होने पर जीव–जडादिके व्युच्चरण–विजातीयत्व व्यवहार– में अविद्या–संबंधका गंध भी नहीं है । ४. प्रपंच मिथ्या नहीं है, भगवद्रूप होने से सत्य है । ५. संसारके संपूर्ण–रूपसे निवृत्त होने में विद्यादिका सामर्थ्य नहीं है, किन्तु भक्तिका ही सामर्थ्य है । ६. इसलिये तदर्थ भगवानकी ही सेवा करनी चाहिये ।

इससे जीवन्मुक्ति–रूपा शान्ति, सायुज्य–मोक्ष–रूपा परम शान्ति, या भगवल्लीलानुभव–लाभ–रूपा परम साक्षात् शान्ति यथाधिकार सुलभ होती ही है । तदर्थ (श्रीभागवत) शास्त्र समझके मनवाणीदेहसे कृष्णसेवा करनी जरूरी है । भगवत्कृपासे यह तदुपयोगी "**सुलभ–शान्ति**"– ग्रंथ गुजरातीमें पहले हुआ था । जिसकी अनेक आवृत्तियाँ हुईं । हिन्दी–भाषान्तर भी हुआ, उसकी भी चार आवृत्तियाँ हुईं । अब पाँचवी होने जा रही है ।

भगवदिच्छासे ही वर्षों बाद दुबई भगवद्–गुणगानके लिये जाना हुआ । अनेक जिज्ञासु–भावुक मिले । यथार्थ पुष्टि–भक्ति–मार्ग–सिद्धान्त समझनेकी सबकी उत्कंठा अदम्य दिखाई दी । "**श्रीभागवत–परिवार**" वहाँ साकार हुआ । इनकी सुजनता से स्वजनताके मङ्गल–हितार्थ ग्रंथदर्शन–प्रकाशन–सत्संग– श्रेणीका मंगलारंभ हुआ । इसमें यह प्रथम पुष्प प्रभुचरणोंमें निवेदित है ।

"**श्रीभागवत–परिवार**" (दुबई) को यह यथार्थ भगवत्कार्यके लिये हार्दिक धन्यवाद ! मङ्गलाशीर्वाद ! श्रीमहाप्रभुजी उदार अनुग्रहसे अपने मार्गमें हम सबको स्थिर करें, सेवालाभ से कृतार्थ करें ।

सेवा–सुभद्रहृदय सौ. लक्ष्मीबहन काराणीजी, सरलस्वान्तः सिद्धान्तरत चि. सौ. बहन मंजु काराणीजी, स्वमार्गोत्कंठ चि. सौ. गीताबहेन पारपीआ–आदि वैष्णववृन्दको "**श्रीभागवत परिवार**" परिचर्या के लिये मङ्गलाशीर्वाद ! सन्निष्ठ प्रूफशोधन सेवाके लिये–चि. बहन दर्शना ज. कापडीआ, चि. सौ.कां. जयश्री र. सोनी, चि. सौ. ज्योतिबहन शास्त्री, चि. सौ. रेखाबहेन भ. राज को सस्नेह मङ्गलाशीर्वाद । सुन्दर–शीघ्र–मुद्रणार्थ श्रीयोगिनभाई परीख, श्रीविजयभाई महेता को हार्दिक धन्यवाद ! अन्य सहयोगी सुजनोंको भी मङ्गल–कामना । "**श्रीविद्यानिधि**"–ट्रस्ट ऐसी सेवाके लिये अहर्निश बद्ध–परिकर है, ट्रस्टीगणको हार्दिक धन्यवाद । इस ग्रंथमें कुछ अयुक्त लगे तो उदार–दृष्टि से देखकर ज्ञात करनेके लिये विद्वद्वृन्दको विनम्र विनति । पू. श्रीवल्लभकुल–चरणोंमें सा. द. प्रणाम ।

"रासोत्सव" लि.
स. २०५१, ता. ८–१०–'९५ कृष्ण–कृष्णास्य कृपाभिलाषी,
ठि. "**व्रजविहार**" **नवनीतप्रिय शास्त्रीके**
मोटीपोल, मोदीसांथ प्रभुवन्दन ।
मु. नडीआद–३८७००१
फोन नं. : ५०९०८

॥ श्रीहरिः ॥

सामान्य-संलाप

(चतुर्थावृत्ति)

समाज में सम्पत्ति और सत्ता का महत्त्व बढ़ता जा रहा है । लोग इनकी खोज में सर्वत्र भटकते हैं । पेट-पूजा का प्रश्न सब को परेशान करता हैं । जीवन के बाकी सब पहलू अतिगौण या निर्जीव-से होते जा रहे हैं । ऐसे समय में आध्यात्मिक आदतों या शास्त्र के सिद्धान्तों की ओर लोगों का ध्यान हो या दिखावे मात्र का हो, यह बिलकुल स्वाभाविक है । फिर भी मानव की स्वाभाविकता अंत में उसे सुख-शांति की खोज के लिए प्रेरित करायेगी ही । भारतीय संस्कृति के ज्योतिर्धर ऋषि-मुनियों ने यह खोज कर रखी है, और वह है सर्वकाल सबको शान्ति देनेवाले शास्त्र-सिद्धान्त ! विभिन्न ऋषियों के विभिन्न अभिप्राय हैं, परंतु वेद-दृष्टाओं के अभिप्राय सर्वोत्तम और सर्वमान्य हैं । वेद में कहे गये सिद्धान्तो का सार या अर्थ सब सम्प्रदायवाले अपने अपने ढंग से समाज की सुख-शान्ति के लिए प्रतिपादित करते हैं । जिसको जो रुचे, स्वीकारे । वैष्णव-सम्प्रदाय में “शुद्धाद्वैत” या “पुष्टिमार्ग” के पास भी ऐसी ही एक सर्वोत्कृष्ट स्वतंत्र दृष्टि है, स्वतंत्र सिद्धान्त है । आधुनिक काल में भी वह सबको जीने का सरल, स्पष्ट और सत्य मार्ग-दर्शन करा सकता है ।

भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के बन जाने में ही

हमारे सब सुखों और शान्ति की चरम सीमा है । यह शरणागति और स्नेह से ही संभवित है । इन दोनों का समन्वय पुष्टिमार्ग या शुद्धाद्वैत में है । इसकी प्रक्रिया या सिद्धान्तों का साधारण प्राथमिक परिचय इस पुस्तिका से जनसमाज को प्राप्त हो, सब प्रभुसन्मुख बनें और सच्चे अर्थ में सुख-शान्ति प्राप्त करें इसी मंगल-कामना से इसको लिखा है ।

इस पुस्तिका के हिन्दी प्रकाशन में श्री शुद्धाद्वैत वैष्णव महा सभा-(मद्रास) की सम्प्रदाय सेवा-रुचि के ही महत्त्व का योगदान है । “सुलभशान्ति” की गुजराती भाषा में दो आवृत्ति श्रीपुष्टिमार्गीय पुस्तकालय से प्रकाशित की थी । पुस्तिका का हिन्दी भाषान्तर श्रीनारायणभाई पूनमभाई पटेल (हिन्दी-सेवक) ने परिश्रम पूर्वक किया है । इस लिये आपके आभारी है । वैष्णव-वृन्द को इसमें कुछ त्रुटि दिखाई दे तो विदित करने की विनंती है ।

ठि. श्रीलक्ष्मीनारायण मन्दिर
सांथ पीपली.
मु. नडीयाद (गुजरात)

लि.
प्रभुपादपद्मपराग प्रेमप्सु,
नवनीतप्रिय शास्त्री
के प्रभुवन्दन

श्रीहरिः

"सुलभ-शान्ति"

विषय-निर्देश

१. संवेदन-निवेदन ४
२ भारतीय धार्मिक संस्कृति का मूल ... २७
३. "सम्प्रदाय"-शब्द का अर्थ २८
४. वैष्णव सम्प्रदाय २९
५. विष्णुस्वामी की परम्परा २९
६. प्राचीन-परिचय ३०
७. कुल-परम्परा ३०
८. श्रीवल्लभ का जन्म ३१
९. बाल्यावस्था ३२
१०. शास्त्र-सिद्धांत-विजय ३२
११. ग्रन्थरचना का आरंभ ३४
१२. प्रथम कनकाभिषेक ३५
१३. प्रसाद-महिमा ३६
१४. गृहस्थाश्रम का स्वीकार ४०
१५. द्वितीय कनकाभिषेक ४०
१६. वेद-नैपुण्य ४२
१७. कालपुरुष-दान ४२
१८. यात्रानुभव ४४
१९. भगवदाज्ञा ४५
२०. ब्रह्मसंबंध ४६
२१. पुष्टिमार्ग ४७
२२. आनन्दगणना ४८
२३. ब्रह्मसंबंध-प्रक्रिया ४९
२४. मुख्याचार ५७
२५. शरणागत-पालन ५९
२६. प्रभु-सेवारंभ ५९
२७. आधिदैविक-स्वरूपानुभव ६०
२८. ग्रंथ--लेखन ६२
२९. अवतार-प्रयोजन ६३
३०. भावात्मक-स्वरूप ६३
३१. भक्तादर ६४
३२. प्रभुनाम-महिमा ६५
३३. सुयोग्य-गुरु ६६
३४. पुत्र द्वारा कपा ६७
३५. पुनः भगवदाज्ञा ६८
३६. भक्तिमार्गीय-रीति से सन्यस्त ६९
३७. स्वजन-शिक्षा ७०
३८. तिरोधान ७०
३९. तेजस्वी-परम्परा ७१
४०. वेद-विचार ७८
४१. कर्म-विचार ७९
४२. वेदार्थ-रीत ८०
४३. ब्रह्म--विचार ८०
४४. समन्वय ८१
४५. प्रमाण-गणना ८१
४६. ब्रह्मवाद का स्वरूप ८२
४७. शुद्धाद्वैत-शब्द ८३
४८. शुद्धाद्वैत का अर्थ ८३
४९. अलग अलग नाम ८३
५०. जगत् और संसार ८५
५१ जीव ८६
[illegible] अखण्डाद्वैत ८७
५३. अक्षरब्रह्म ८८
५४. परब्रह्म ८९
५५. माया ९०
५६. माया से पार उतरने का उपाय ९१
५७. जीव के लिये मार्गदर्शन ९२
५८. स्वतन्त्र-भक्तिमार्ग / पुष्टिमार्ग ९४
५९. अनन्यता ९५
६०. अलग अलग नाम ९७
६१. मार्ग का सामान्य स्वरूप ९७
६२. भगवान् श्रीकष्ण श्रृंगाररसरूप है।.. ९८
६३. फलितार्थ ९९

*

॥ श्रीहरिः ॥

सुलभ-शान्ति

(पुष्टिमार्ग-शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय)

तन, मन और धन के दुःख से, आजकल प्रायः सभी दुःखित हैं। सर्वत्र भटकते हैं ,- शान्ति की खोज में ! मथते हैं,- सुख पाने के लिए, पर अंत में प्राप्त करते हैं,- दुःख ! न दुःख हटता है, न सुख कहीं दिखाई देता है। तन की पीड़ा और मन की कसक सबको त्रस्त करती है। धन की कमी बढ़ती जाती है। मँहगाई में मन की मिठास बिदा ले रही है। वस्तु व्यक्ति से बढ़कर मानी जाती है। सुख के साधन-संयोग और सुविधाएँ बढ़ी है, फिर भी मन को शान्ति नहीं। पहेले बिजली, रेलें, सड़कें, यातायात के साधन, होटल- सिनेमा-आदि न थे; आज बहुतायत से हैं, फिर भी मनुष्य तो अनेक अभावों से त्रस्त है। मन की इस अशांति को भूलने, और क्षणिक शान्ति लोभ में लोग व्यसन, दुःसंग-वाचन-वार्ता आदि अनेक व्यर्थ आदतों में फँसते हैं। इससे अशांति ही बढ़ती है। चाहे समाज श्रीमंत हो या मध्यम या गरीब, किसी को शान्ति नहीं। युगों से इसकी खोज जारी हैं। सब अपने अपने ढंग से रास्ता ढूँढते हैं, मथते है, उलझते हैं और इसी में जीवनयात्रा पूरी करते हैं परंतु शान्ति की खोज अधूरी ही रहती है।

प्राचीन-काल में राजा लोग भी शान्ति ढूँढते थे। वे सगे-संबंधियों को, सत्ता को, सम्पत्ति को त्यागकर

वन की राह लेते थे । किसी भी तरह भगवद्-भजन द्वारा शान्ति पाने को प्रयत्नशील रहते थे । ऋषिवर्य तो वनवास करके, बिना सत्ता, सम्पत्ति या साधन का जीवन जीते, कठिनाई या कमी को सहते, जरूरतों को कम करते, प्रकृति पर निर्भर रहकर भजन-भाव में शान्ति का अनुभव करते थे । आज सब बिलकुल उलटे रास्ते पर चलकर शान्ति पाना चाहते हैं । जरूरतों को बढ़ाकर, सत्ता-संपत्ति-साधन-रिश्ते आदि को पाने में और फिर उनके संग्रह में शान्ति ढूँढते है या कहिये कि शान्ति के सपने देखते हैं । इस तरह विपरीत रास्ते में भटकनेवालों को सुख-शान्ति कैसी ?

साधन-समृद्धि-संशोधन आदि में सिरमौर होते हुए भी अमेरिका जैसे देशोमें सुख-शान्ति ढूँढने पर भी नहीं मिलती । आखिर हार कर वहाँ के लोग भारतीय मार्ग की ओर मुडते हैं । उनका यह मोड़ या झुकाव देख कर हम खुश होते हैं, उनका गुणगान करते हैं परंतु अपने ही घरके उस रास्ते पर विचरना नहीं चाहते । हम तो उनका अंध-अनुकरण करके भटकते हैं और फिर पछताते हैं । शान्ति के लिए ध्यान, योग, कथा, कीर्तन, जप, पूजा, सेवा, तीर्थयात्रा आदि जो कुछ सरल-सहज लगता है, ग्रहण करते हैं । उसे किसी भी ढंग से करते हैं और क्षणिक शान्ति आभास से मुग्ध हो जाते हैं । हमारे ऋषि-मुनियोंने परम और नित्य शान्तिका पथ स्पष्ट रूपसे दिखाया हैं । श्रीमद्-भागवत (११-२-४३) में तो असंदिग्ध रूपसे बताया है कि- **"प्रपद्यमानस्य"** - प्रभुके शरणागतको

उसका लाभ होता है, उसकी प्राप्ति होती है ।

"इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः ।
भवन्ति वै भागवतस्य राजंस्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥"

जीव भगवान् की शरण में जाय, भगवान् के सानुकूल बनकर जीवन व्यतीत करे, भगवान् के चरणकमल की सेवा करे, तो भगवद्-भक्त बने उसको निश्चित रूपसे भक्ति, वैराग्य और भगवान् का अनुभवात्मक ज्ञान प्राप्त होता है । फिर उसे परम शान्ति की प्राप्ति होती है । सामान्य शान्ति की तो मात्रा कल्पना की जाय, जब कि परम शान्ति का अनुभव किया जाय । प्रभुके परिचय और प्रेम से प्राप्त-शान्ति, परम शान्ति है ।

जो शान्ति भगवान् की शरण में और स्नेहपूर्वक सेवा में मिलती है, वह क्षणिक या आभास रूप या सामान्य नहीं है बल्कि साक्षात् और परम है । जिसको वह मिली उसको अशान्ति या दुःख कभी पीड़ा नहीं पहुँचाते । शान्ति को पाने का तरीका सब अपनी अपनी कल्पना के अनुसार बताते हैं । वैष्णव आचार्यो ने भगवान् की भक्ति के अलग अलग मार्ग बताये हैं । उनमें श्रीभागवत के सार रूप **"पुष्टिमार्ग"** या **"शुद्धाद्वैत"** का मार्ग श्रीवल्लभाचार्यजीने बताया है । इससे साक्षात् परम सुख-शान्ति सबको सुलभ होतें है । भारतीय संस्कृति के मूलस्रोत वेदों का भी यही सार हैं ।

भारतीय धार्मिक संस्कृति का मूल :

वेद भारतीय धार्मिक संस्कृति का मूल है । वे भगवान् के निःश्वास से प्रकट हुए हैं । इनकी रचना किसी पुरुष द्वारा नहीं हुई है । इसलिए वे अपौरुषेय हैं । प्राचीन ऋषियों ने समाधि अवस्था में वेदों के दर्शन किये है । इसलिए ऋषिलोग वेद के दृष्टा हैं, कर्ता नहीं । मूल में वेद एक ही था । द्वापर युग में व्यास महर्षिजी ने वेद के चार विभाग किये जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के नाम से प्रसिद्ध हुए । वेद सच्चिदानंद ब्रह्म की पहचान कराते हैं । 'सब वेदों में मैं सामवेद हूँ' ऐसा भगवान् ने गीता में कहा हैं । वेद के पूर्वकांड में यज्ञरूप भगवान् की और उत्तरकांड में ब्रह्मस्वरूप भगवान् की पहचान हैं । श्रीभागवतमें पूर्ण भगवान् गाये हैं ।

"सम्प्रदाय"–शब्द का अर्थ :

गुरु अपने शिष्य को परम्परागत रीति से इस सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मज्ञान का दान करे उसको सम्प्रदाय कहते हैं । सम्प्रदाय शब्द में **सम्** + **प्र** + **दा** + **घञ्** – वर्ण आये हैं । इनमें से "**सम्**" उपसर्ग का अर्थ है सम्यक् । भगवान् की आज्ञा से, जीवों पर दया करके, वेद के सार रूप, शिष्यपरम्परा से प्राप्ति हुई हो उसे सम्यक् कहते हैं । "**प्र**" उपसर्ग प्रकृष्टता का वाचक है और "**दा**" धातु दानार्थक है । "**घञ्**" – प्रत्यय भावार्थक है । इस तरह सब शब्द मिलकर–भगवान् की आज्ञा से, जीवों पर दया करने के परम्परासे

भावपूर्वक, प्राप्त हुआ, प्रकृष्ट दान– "**सम्प्रदाय**" हुआ है । इस प्रकार का उत्तम दान वेद का तत्त्व रूप हैं । वह जिस (साधन) से मिलता है उसे "**मार्ग**" भी कहते हैं । इस तरह मंत्र द्वारा परम्परागत ब्रह्मज्ञान जहाँ मिलता है उसे "**सम्प्रदाय**" या "**मार्ग**" कहते हैं । इस प्रकार का ज्ञान जहाँ नहीं मिलता वहाँ सामान्यतः "**पंथ**" शब्द का उपयोग होता है । सम्प्रदाय कोई बाड़ा, दल या गुट नहीं है ! "सर्वशास्त्र जानने पर भी, स्वसंप्रदायको न जाननेवाला मूर्खकी तरह उपेक्षणीय है ।" श्रीशंकराचार्यजीने भी गीताभाष्यमें कहा है ।

वैष्णव सम्प्रदाय :

अनेक साम्प्रदायिक–मार्ग शास्त्रों में तथा लोगों में प्रसिद्ध हैं । उनमें वैष्णव सम्प्रदाय चार हैं । भगवान् की आज्ञा से रुद्र, लक्ष्मीजी, ब्रह्माजी और सनत्कुमारों ने वे प्रचलित किए हैं । काल क्रमसे उनका लोप होने पर पुनः भगवान् की इच्छानुसार विष्णुस्वामी, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य और निम्बार्काचार्य ने उनका समर्थन किया । इनमें विष्णुस्वामी की परम्परा में श्रीमद्वल्लभाचार्यजी ने गादी का स्वीकार किया । श्रीमद् वल्लभाचार्यजीने शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय या पुष्टिमार्ग जो शास्त्र में गुप्त था उसे भगवान् की आज्ञा से प्रकट किया ।

विष्णुस्वामी की परम्परा :

विष्णुस्वामी की परम्परा में आचार्य परम्परा तो पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण से है । पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण, रुद्र,

नारद, कृष्ण-द्वैपायन व्यास, शुकदेवजी, विष्णुस्वामी द्राविड, बिल्वमंगल और श्रीमद्‌वल्लभाचार्य, इस गादी की आचार्य परम्परा में हैं । उसमें विष्णुस्वामी का भक्तिमत तामस है और श्रीवल्लभाचार्यजी का प्रतिपादित पुष्टिमार्ग निर्गुण है । साक्षात् भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की आज्ञा से श्रीवल्लभाचार्यजी ने दैवीजीवों के उद्धार के लिए पुष्टिमार्ग प्रकट किया ।

प्राचीन-परिचय :

श्रीवल्लभाचार्यजी के पूर्वज दक्षिण भारत के आंध्रतैलंग देश में रहते थे । कृष्णा नदी के दक्षिण में व्योमस्तंभ पर्वत के पास काकरवाड (काकुंभकर) या कांकरपल्ली नामक गाँव में उनका निवास था ! कृष्णा के तौर पर वेल्लनाटी या वेल्लनाडु कुल के तैलंग ब्राह्मण वे प्रसिद्ध थे । वे कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के, भारद्वाज गोत्र के थे । उनका उपनाम "खंभपट्टीवारु" था । उनकी कुलदेवी रेणुका थी । वे परम्परागत वैष्णवदीक्षा से दीक्षित थे ।

कुल-परम्परा :

श्रीवल्लभाचार्य से आठवें पूर्व पुरुष गोविन्दाचार्यजी थे । उनके पुत्र वल्लभ दीक्षित हुए । उनके पुत्र थे यज्ञनारायण भट्ट । दक्षिण में यज्ञादि का खूब प्रचलन था । यज्ञनारायण भट्ट की कुलपरम्परा में "सोमयाग" का आरंभ उनसे हुआ । उन्होंने ३२ सोमयाग किये । उनके पुत्र गंगाधर सोमयाजी ने २८ और उनके पुत्र गणपति भट्टने ३० सोमयाग किये । उनके पुत्र बालं या वल्लभ भट्टने ५ और उनके पुत्र लक्ष्मण भट्टजी ने ५ सोमयाग किये । इस तरह कुल १०० सोमयाग हुए । उसके कुल में १०० सोमयाग का अवधि पूर्ण होने पर, कुल में भगवान् का अवतार होने का वरदान था । इसलिए लक्ष्मण भट्टजी के वहाँ भगवान् ने श्रीवल्लभाचार्य के रूप में अवतार लिया ।

श्रीवल्लभ का जन्म :

उस समय की राजकीय अस्थिरता के कारण श्रीलक्ष्मण भट्टजी अपनी गर्भवती पत्नी इल्लमागारु को साथ लेकर काशी से दक्षिण की ओर चल पड़े । रास्ते में चंपारण्यप्रदेश के चोडा नगर में वि. सं. १५३५ की चैत्र कृष्णा ११ को सतमासा पुत्र का जन्म हुआ । माताजी ने जंगली केले के पत्तों से ढाँक कर एक शमीवृक्ष के कोटर में पुत्र को रख दिया । जिन्दा न मानकर पुत्र को वहीं छोड़कर वे चोडानगर आई । उपद्रव के शान्त होने पर लौटते समय उसी स्थान में एक अग्निकुंड के बीच में दिव्य बालक को देखा ! वात्सल्य भाव के उमडने से माताजी के स्तनों से दूध की धाराएँ फूट पडी । अग्निने मार्ग दिया, यह देखकर माता को विश्वास हुआ कि बालक अपना ही हैं । बालक को लेकर वे काशी लौट आये । वह बालक ही श्रीमद्‌वल्लभाचार्यजी के नाम से प्रसिद्ध हुआ । लक्ष्मण भट्टजी के दो पुत्रियाँ और तीन पुत्र थे । उनमें से सबसे बड़े रामकृष्ण भट्ट संन्यास ग्रहण करके केशवपुरी के नाम से प्रख्यात हुए । दूसरे थे

श्रीवल्लभाचार्यजी और तीसरे थे श्रीरामचन्द्र भट्टजी। एक अन्य मत के अनुसार श्रीवल्लभाचार्यजी का प्राकट्य वि. सं. १५२९ की चैत्र कृष्णा ११ को भी माना गया है।

बाल्यावस्था :

लक्ष्मण भट्टजी समर्थ विद्वान् थे। पाँच वर्ष की आयु में अपने प्रिय पुत्र श्रीवल्लभ का यज्ञोपवीत-संस्कार कराया। फिर माधवेन्द्र यति की मशहूर पाठशाला में उनको विद्याध्ययन के लिए भेजा। संभवतः सातवें वर्ष में लक्ष्मण भट्टजी ने उन्हें अपनी परम्परागत मंत्रदीक्षा दी। ग्यारह वर्ष की उम्र में बाल-सरस्वती-से तेजस्वी किशोर ने अपना स्वाध्याय पूरा किया। विशेष-अध्ययन के लिए कुटुंबिजनों को साथ ले दक्षिण में आये और विजयनगर में रहने लगे। इसी बीच श्रीलक्ष्मण भट्टजी का बालाजी की तीर्थयात्रा करते हुए देहान्त हुआ। वार्षिक श्राद्ध क्रिया से निपट कर पिता की इच्छा पूर्ण करने को श्रीवल्लभ ने यात्रा का आरंभ किया।

शास्त्र-सिद्धान्त-विजय :

यात्रा करते हुए श्रीवल्लभ पुरुषोत्तम क्षेत्र जगन्नाथपुरी में आये। ब्रह्मचारी का वेश धारण किए हुए थे, कमर में धोती, कंधो पर दुपट्टा और चरण पादुका-रहित, अद्भुत तेज विराजमान था। सब आदर से देखते थे। उस दिन श्रीजगन्नाथजी के मंदिर सभामंडप में शास्त्रार्थ-सभा का आयोजन किया गया था। इन प्रश्नों पर पंडितो की चर्चा थी- (१) मुख्य शास्त्र कोन-सा है ? (२) कौन मुख्य देव है ? (३) प्रमुख मंत्र कौन-सा है ? (४) मुख्य कर्म क्या है ? सरल होते हुए भी प्रश्न गहन थे। निर्णय नहीं हो सकता था। सब उलझन में थे। श्रीवल्लभ ने विवेकपूर्ण गौरव से समाधान दर्शायाः- "**अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।**" गीता (१५-१८) में स्वयं भगवान् ने कहा है - "क्षर और अक्षर से भी श्रेष्ठ, लोक और वेदों में प्रसिद्ध पुरुषोत्तम मैं ही हूँ।" प्रमाणित कराने के लिए श्रीजगन्नाथजी के समक्ष कागज- स्याही-कलम रखे गये। श्रीजगन्नाथजी ने स्वयं लिख दिया :

"एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव।
मन्त्रोऽप्येकस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥"

देवकीपुत्र भगवान् श्रीकृष्ण की गायी हुई श्रीमद्भगवद्- गीता ही एक मुख्य शास्त्र हैं। देवकीनंदन भगवान् श्रीकृष्ण ही एक मुख्य देव हैं। देवकीसुत भगवान् श्रीकृष्ण के जितने नाम हैं वे सब प्रमुख-मंत्र हैं। देवकीसुत भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा-टहल ही मुख्य कर्म हैं।

इस पर भी किसी ने आशंका करने की धृष्टता की ही- "श्रीजगन्नाथजी के हाथ तो नहीं दिखाई देते, फिर उन्होंने लिखा कैसे ?" भगवान् ने तुरन्त उत्तर दिया :- "पिता और प्रभु का द्वेष करनेवाला हीन (अन्यरेता) होता है।"

श्रीवल्लभ वहाँ से आगे चल दिये। साथ में

माताजी थी और सेवक कृष्णदास मेघन भी । उज्जैन में कुंभस्नान किया । रास्ते में वर्धा में दामोदरदास हरसानी से भेंट हुई, अनन्य सेवक-भाव से साथ में ले लिये । पुनः सब विजयनगर में आये । यह प्रथम यात्रा प्रायः वि. सं. १५४५ में हुई ।

ग्रंथरचना का आरंभ :

बचपन से ही श्रीवल्लभ पंडितों की सभाओ में अपना स्वतंत्र मत निर्भीकता से व्यक्त करते थे । उन दिनों की राजकीय, सामाजिक और धार्मिक परिस्थिति को देखकर उन्होंने अपने स्वतंत्र अभिप्राय का स्पष्ट रूप से आलेखन किया । उन्होंने लोगों को तरह-तरह के आचारों के बहाने अनाचार में भटकते देखा । सब शास्त्रों का समन्वय करनेवाला कोई सिद्धान्त- निर्णय प्रचार में न देखा । अतः करुणा-क्रान्त हुए । किसी भी प्रकार के पूर्व-मत रहित होकर सर्व शास्त्रों का बार बार अवगाहन किया । समग्र वेदवचन, रामायण, महाभारत पंचरात्र, ब्रह्मसूत्र गीता-भागवत आदि समस्त शास्त्रों का स्पष्ट, स्वाभाविक, सरल, सच्चे अर्थ में संकलित अर्थ का विचार किया । कलियुग में साधन और अधिकार से रहित लोगों के कल्याण के लिए कमर कस ली, और कृपावंत हो कर "तत्त्वार्थदीप-निबंध" ग्रंथ की रचना की । उसमें उन्होंने श्रीमद्भागवत का स्थान अनन्य बताया । सामान्यतः प्राचीन आचार्य वेद, गीता और ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखते थे, और इस तरह अपना अभिप्राय व्यक्त

करते थे और सम्प्रदाय का प्रचार करते थे । इस प्रस्थानत्रयी में श्रीवल्लभ ने भागवत को जोडा और स्वयं ने चार प्रस्थानों को स्वीकार किया । श्रीमद्-भागवत को वेद-गीता-ब्रह्मसूत्र का स्वाभाविक भाष्य बताया । किसी भी प्रकार की शंका का समाधान श्रीमद्भागवत से हो सकता है, यह उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा । उदार श्रीवल्लभ ने तो सर्वज्ञदशा में सर्व शास्त्रों का प्रामाण्य बताया है । सकल साहित्य भगवन्नामात्मक है, भगवान् की नाम लीला है । उसके विरुद्धांश का- समन्वयार्थकता से-परित्याग करते हुए सबको प्रमाणरूप बताया है । अपने मत को "ब्रह्मवाद" का नाम दिया हैं । पितृ परम्परा से "निबंध" की "इतिश्री" में उन्होंने अपने को "विष्णुस्वामिमतानुवर्ती" बताया है ।

प्रथम कनकाभिषेक :

श्रीवल्लभ को पुनः तीर्थयात्रा की इच्छा हुई । साधु-पुरुष तो तीर्थयात्रा के बहाने सब जीवों पर कृपा करने को ही विचरते हैं । मेघन और हरसानीजी साथ में थे । गीताजी, भागवतजी और पिताजी के दिये हुए शालग्राम की सेवा और अति आवश्यक सामान साथ में लेकर ब्रह्मचारी वेश में वि. सं. १५४८ में तीर्थयात्रा आरंभ की । शायद यह उनकी द्वितीय यात्रा थी । साथ ही अपने स्वतंत्र अभिप्राय के प्रचार का भी आरंभ किया । लोगों को कृष्णभक्ति-सेवा-शरणागति की शिक्षा देने लगे । यात्रा के दरमियान शास्त्रार्थ करते थे

और लोगों को शरण में लेते थे । वे अपना निवास लोगों से दूर एकांत में किसी जलाशय के किनारे करते थे । श्रीमद्– भागवत–वेद आदि के पारायण और प्रवचन भी करते थे । ऐसे सभी स्थान 'बैठक' के नाम से प्रसिद्ध हैं, जिनकी संख्या ८४ हैं । प्रथम पारायण उन्होंने पंढरपुर में किया । श्रीभागवत् की सूक्ष्मटीका और पूर्वोत्तर–मीमांसा का भाष्य उन्होंने संभवतः प्रथम यात्रा के दरमियान लिखा । वि. सं. १५५५ में पुनः यात्रा की । जब वे ओरछा नगर में आये.

ओरछा बुंदेलखंड के नजदीक का प्रदेश था । वहाँ का राजा रामभद्र था । कहा जाता है कि उसके दरबार में एक विद्वान् ने सरस्वती को वश में करके एक घड़े में बंद कर रखा था । वह घटसरस्वती के नाम से प्रसिद्ध था । श्रीवल्लभ ने उससे शास्त्रार्थ किया और उसको पराजित किया । इससे सब प्रभावित हुए । राजा ने कनकाभिषेक किया । शास्त्रार्थ में विजयी होनेवाले पंडितों का सन्मान करने की यह विधि कनकाभिषेक है । "ब्रह्मवाद" की प्रसिद्धि की शुरूआत हुई । काशी में आकर भी शास्त्रार्थ में विजयी बने । अपना स्पष्ट शास्त्राभिप्राय काशीविश्वेश्वरजी के दरवाजे पर पत्र के रूप में लगवाया, वह "पत्रावलम्बन" ग्रंथरूप में प्रसिद्ध हैं उस ग्रंथ द्वारा सब पंडितों का समाधान किया । वहां से वे श्रीजगन्नाथजी के दर्शन को गये ।

प्रसाद–महिमा :

श्रीजगन्नाथजी के प्रसाद का माहात्म्य बहुत प्रसिद्ध है । वहाँ प्रसाद का भात सब कोई ग्रहण करते हैं और वह भी बिना किसी जाति–पाँति के भेद–भाव के । श्रीवल्लभ को किसी ने प्रसादी–भात एकादशी की रात्रि को दिया । उन्होंने आदर पूर्वक उसे स्वीकार किया परंतु व्रतभंग न हो इसलिए खाया नहीं । नीचे रखने में अनादर होता था, इसलिए उसको हाथ में धारण किए हुए ही रातभर भगवान् के प्रसाद का महिमागुण गाया और सुबह होने पर आदर पूर्वक प्राशन (भोजन) किया । इस तरह शास्त्र और श्रीहरि दोनों का समादर किया, संयम और स्नेह का सुभग समन्वय किया ।

पुष्टिभक्ति–मार्ग में तो प्रसाद भी भगवद्–रूप ही हैं । इसलिए उसका कभी अन्त नहीं होता, उसमें खोट (कमी) नहीं आती । उसको ग्रहण करनेवाले की बुद्धि शुद्ध होती है । विज्ञान की दृष्टि से भी यह सिद्ध हो सकता है । एक लोह–खंड से दूसरा लोहकांत एक ढंग से रगड़ने **(Induction)** से–उपपादन क्रिया से–लोहे का खंड लोहकांत बन जाता हैं । इस क्रिया में लोहकांत की न शक्ति घटती है, न उसका स्वरूप बदलता है । और नये लोहकांत की शक्ति में भी कोई फर्क नहीं रहता । दोनो लोहकांत की तरह ही काम देते हैं । अगर जड़ ऐसे लोहकांत में यह शक्ति है, तो सर्व–समर्थ भगवान् की शक्ति का तो कहना ही

क्या ? भक्ति पूर्वक भक्त भगवान् को जो कुछ अंगीकार कराता है, भगवान् जिससे सम्बन्ध जोडतें है, वह सब भगवद्रूप बन जाता है और उसमें कोई न्यूनता नहीं रहती । सामग्री या वस्तु भी भगवान् के अंगीकार–संबंध से भगवद्रूप बनती हैं । भगवान् पूर्ण है, अनंत है, वस्तु भी वैसी ही बन जाती है । श्रुति वचन है– "**पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते**" । "पूर्ण में से पूर्ण लेने पर भी पूर्ण बाकी बचता हैं ।"

इस तरह ब्रह्म अनेक रूप से व्यक्त होने पर भी मूल रूप में अविकृत रहता है । उसी तरह भगवान् की अंगीकार की हुई वस्तु प्रसाद बने, भगवद्–रूप बने, उस प्रसाद को पूर्ण रूप से ले लेने पर भी वह पूर्ण ही रहता है, घटता नहीं ।

पुष्टिमार्ग में अनेक भक्तों ने ऐसा अनुभव किया है और ऐसे अनेक प्रसंग प्रसिद्ध हैं कि प्रभुके स्पर्श संबंध से भगवद्– रूप बनी हुई वस्तु या सामग्री घटी नहीं है ; भगवान् के आरोगने पर भी वह ज्यों की त्यों बनी रही है । इस तरह युक्ति और शास्त्र दोनों से यह सिद्ध हुआ है ।

अज्ञान के कारण हम यह नहीं समझ सकते और ऐसा अनुभव भी सबको नहीं होता, क्योंकि हमारे अन्तःकरण की शुद्धि, श्रद्धा और अलौकिक सामर्थ्य भी उतनी मात्रा में हममें नहीं है, अनन्य भक्तों को ऐसा अनुभव होता है । भगवत् प्रसाद लेने से सब की बुद्धि शुद्ध हो, दोष दूर हो, प्रभु से प्रीत हो और यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो; इसके लिए लेने वाले में प्रसाद भाव होना

चाहिए, वस्तु–भाव नहीं । प्रभु जो कुछ आरोगे वह प्रसाद है, और वही अन्य में स्वसामर्थ्य या प्रभावका संपादक बनता है । प्रभु तो स्वतंत्र हैं और जिस पर ऐसी कृपा करनी होती है उसको ऐसा अनुभव कराते हैं । प्रसाद लेते समय यह अमुक वस्तु (ठोर, जलेबी, खीर-आदि) है ऐसा भाव ही वस्तु–भाव है । इससे तो वस्तु के गुण–दोष का ही असर होता है, उससे बुद्धि नहीं सुधरती । अयोग्य मार्ग से प्राप्त, अयोग्य रीति से तैयार की गयी, अयोग्य रीति से निवेदन की गयी, वस्तु भी भगवान् अंगीकार नहीं करते । भक्तों के प्रेम से वशीभूत भगवान् भक्तों की कृतार्थता के लिए सब कुछ स्वीकारते हैं और भक्तिमार्ग अनुकूल रीति से ही आरोगते हैं । इसके बिना वस्तु प्रसाद नहीं बनती । प्रसाद के बिना बुद्धि की शुद्धि कैसे संभव हो ? प्रसादी को भी, उसके आरोगनेवाले प्रभु को और प्रभु की प्रसन्नता को याद करते हुए, कृतार्थता समझकर, लेना चाहिए ।

भगवान् की तरह भगवद्रूप प्रसाद भी स्वतंत्र हैं । जिसको दर्शन देना चाहते है, भगवान् उसके सन्मुख उपस्थित हो जाते हैं, वर्ना अंदर बाहर सर्वत्र विराजमान होते हुए भी अनुभव नहीं देते । उसी तरह प्रसाद भी अयोग्य व्यक्ति को अनुभव नहीं देता, तिरोहित हो जाता है । ऐसे व्यक्ति को मात्र वस्तु का (ठोर, जलेबी, आदि के रूप में) अनुभव होता है । प्रसाद तो प्रभु के अलौकिक सामर्थ्य रूप, प्रसन्नता रूप भी हैं । उसकी तो एक कणिका भी मिले तो

कतार्थ हो जाएँ । अधिक मात्रा में वह मिले तो भी जीवों को कृतार्थता प्राप्त हो । यह कृतार्थता है, कोई अन्न का बिगाड़ नहीं है । सर्व-समर्थ प्रभु को आरोगने में श्रम नहीं होता । लीला के भक्त भी तो साथ में होते हैं । यह श्रद्धा और स्नेहका विषय है ; जो शुष्क बुद्धि के तर्क से समझ में नहीं आता । अनन्य भक्ति से भगवान् समझ में आते हैं ।

गृहस्थाश्रम का स्वीकार :

श्रीवल्लभ की इच्छा जीवन भर ब्रह्मचर्य-पालन की थी परंतु स्वयं श्रीविट्ठलनाथजी ने उन्हें गृहस्थाश्रम स्वीकारने की आज्ञा यात्रा दरमियान की । उपनिषदों में भी गृहस्थाश्रमी ऋषि-परम्परा दिख पड़ती है । माताजी की भी प्रबल इच्छा थी, आग्रह था, जो स्वाभाविक ही है । परिणामतः सजातीय ब्राह्मण की "महालक्ष्मी" नामक कन्या से काशी में ब्याह हुआ । प्राचीन परम्परानुकूल श्रीवल्लभ ने गृहस्थाश्रम को स्वीकार किया । जाति के रिवाज के अनुसार पत्नी के मायके में जाने पर श्रीवल्लभ पुनः विजयनगर आये । विजयनगर का दूसरा नाम विद्यानगर भी था ।

द्वितीय कनकाभिषेक :

विजयनगर का राज सेनापति कृष्णदेवराय विद्या और विद्वानों का खूब आदर करता था । हर साल अपनी राजधानी में विद्वत् सभा का वह आयोजन करता था । एक बार एक मास पर्यंत विद्वत्समाज का सम्मेलन हुआ, उस समय श्रीवल्लभ भी वहाँ पधारे ।

मध्वसंप्रदाय के व्यासतीर्थ और शांकर-पंडितों के बीच विवाद चल रहा था । कुछ मत के अनुसार पहली यात्रा के दौरान यह शास्त्रार्थ प्रसंग हुआ था । इस विवाद-प्रसंग में श्रीवल्लभ की संपूर्ण विजय हुई और सब विद्वानों की उपस्थिति में कनकाभिषेक करके उनका सम्मान किया गया । उस अवसर पर सोने की जो-जो चीजें उपयोग में लायी गयी थीं, सब श्रीवल्लभ को भेट की गयीं । वह सब स्नान के जलरूप मानकर श्रीवल्लभ की ओर से विद्वानों को बाँट दिया गया । सोने की मुहरें जो भेंट की गयीं थी उनमें से केवल सात मुहरें जो दैवीद्रव्यरूप थी, भगवान् के उपयोग के लिए रखीं, और बाकी सब बाँट दी गयीं । राजा ने श्रीवल्लभ की सुवर्णतुला कराकर सारा द्रव्य श्रीवल्लभ को भेट किया । श्रीवल्लभ ने उसके चार हिस्से किये उनमें से दो श्रीविट्ठलनाथजी के शृंगार के लिए दिये, एक से पिता का ऋण चुका दिया और एक भाग गृहस्थ-धर्म का पालन करने को रखवा लिया । इस कनकाभिषेक के समय श्रीवल्लभ को स्वतंत्र आचार्यपद प्राप्त हुआ । सर्वसंमति श्रीवल्लभ को **"अखंडभूमंडलाचार्यवर्य महाप्रभु श्रीमदाचार्य"** की पदवी सादर समर्पित की गयी ।

इस अवसर पर मध्य-सम्प्रदाय के आचार्य-व्यासतीर्थ ने अपनी गादी स्वीकारने की विनंती की, परंतु अपने सिद्धान्त में सन्निष्ठ ऐसे श्रीवल्लभ ने उसका स्वीकार नहीं किया । योगी

बिल्वमंगल ने विष्णु सम्प्रदाय की अपनी गादी स्वीकारने की विनंती की, जिसको श्रीवल्लभाचार्यजी ने स्वीकार किया । फिर श्रीवल्लभाचार्यजी ने तीर्थयात्रा पुनः आरंभ की । तीर्थयात्रा के क्रममें या समय में मतभेद है, परंतु यात्रा और उसके प्रसंगो का प्रायः कोई मतभेद दिखाई नहीं देता । अनेक अद्‌भुत प्रसंग आपकी तीर्थयात्राओं में घटे हैं । उन सब में श्रीमद्‌-वल्लभचार्यजी की अप्रतिम प्रतिभा, विद्वत्ता, उदारता, शिस्त, अलौकिक-सामर्थ्य आदि की स्वाभाविकता प्रतीति होती हैं ।

वेद-नैपुण्य :

यात्रा के दरमियान वेदपाठी विप्रों से भेंट हुई । उन्होंने मन्त्रों का पाठ किया । हर एक मंत्र का एक-एक चरण छोडकर वे सब मंत्र बोलकर मौन हुए । फिर श्रीमद्‌-वल्लभाचार्यजी ने वेदमंत्रो का पाठ शुरू किया । पाठ में विप्रों ने मंत्रो का जो भाग छोड़ दिया था उसीका उन्होंने पाठ किया मगर विलोम (उलटे) क्रम में । अंतिम मंत्र से पहले मंत्र तक छोडे हुए सब मंत्रो के भागोंका व्यवस्थित पाठ कर दिखाया । संतुष्ट हो, वंदन करके सब विप्र बिदा हुए ।

कालपुरुष-दान :

यात्रा करते हुए श्रीवल्लभाचार्यजी ताम्रपर्णी के निकट आये । वहाँ एक अति दुःखी ब्राह्मण आया । दयार्द्र होकर आचार्यजी ने विप्र से दुःख का कारण

पूछा । ब्राह्मण ने अपनी राम कहानी कह सुनाई । पालंकोटा नामक नगर हैं ; वहाँ का राजा कालज्वर से पीड़ित हैं । कोई औषधि कामयाब नहीं हुई, तब राजा के गुरु ने तन्त्रोक्त रीति से सोने का काल-पुरुष बनाया, जिसका दान देने से राजा का रोग दूर हो सकता था । जो भी दान लेने को सन्मुख जाता था, सोने का काल-पुरुष जिन्दा व्यक्ति की तरह हुँकार करके एक उंगली दिखाता था । यह देख सब डर जाते थे । किसी ने दान लेने की हिम्मत नहीं की । आखिर राजपुरोहित के नाते दान लेने की जिम्मेदारी इस ब्राह्मण के सिर आयी । इससे घबराकर, खूब दुःखित होकर किसी बचानेवाले की टोह (खोज) में वह निकला था । आचार्य ने अपने शिष्य को उसके साथ भेजा । गायत्री का ध्यान धरके दान लेने की आज्ञा दी । सोने के काल-पुरुष ने शिष्य के सामने एक उँगली उठायी, तो जवाब में शिष्य ने दो उठायी । काल-पुरुष ने सिर नीचा किया; राजाने दान दिया, शिष्यने उसे लिया; लेकिन हाथ काले हो गये । अविलम्ब सोने के काल-पुरुष का विसर्जन किया गया-टुकडा-टुकडा करके ब्राह्मणों को बाँट दिया गया । हाथ पूर्ववत् हो गये । राजा आश्चर्यचकित होकर शिष्य के साथ आचार्यजी के पास आया । सब संज्ञाओ का रहस्य पूछा तो आचार्य जी ने समझाया,- एक उँगली उठाकर काल-पुरुष बता रहा था कि दिन में एक बार भी संध्या करने वाला मुझे ले सकता हैं । शिष्य ने कहा-एक नहीं मैं दिन में दो बार सन्ध्या

करता हूँ। यह सुन, सिर नवाकर काल-पुरुष ने दान लेने की संमति दी। इस तरह समझने पर भी शिष्य ने अयोग्य दान लिया इससे उसके हाथ श्याम हुए। फिर उसे ब्राह्मणो में बाँट देने से श्यामता चली गई। दोषयुक्त दान भी दुःखित करता हैं। राजा चरणों में पड़ गया देह के दुःख को शिष्य द्वारा दूर करने वाले की शरण में गया और दिल के दोष-दुःख दूर करने की विनती करने लगा। आचार्यजी ने दीक्षा दी और कृतार्थ किया।

यात्रानुभव :

शरणमें आये हुए को सनाथ करते हुए और दैवीजीवों का उद्धार करते हुए श्रीमद्‌वल्लभ सच्चे अर्थ में आचार्यत्व को प्रकट करते थे। समस्त शास्त्रों की एकवाक्यता- सुसंवादिता-सिद्ध करे, स्वयं (उपदेशानुसार और अपने अधिकारके अनुसार) आचार करे और लोगों में उसका प्रचार करे वही "**आचार्य**" है। श्रीमद्‌वल्लभाचार्यजी में तो यह स्वाभाविक प्रकट रूपमें दिखाई देता था। उन दिनों अपने प्रवास दरमियान सर्वत्र देखे गये अनर्थो का स्पष्ट निरूपण उन्होंने "कृष्णाश्रय" में किया हैं। "**सर्वमार्गेषु नष्टेषु.....।**" सर्वत्र सब सन्मार्गो का लोप हो गया था, लोग पाखंड-परायण हो गयें थे। विधर्मियों के अनेक आक्रमण होते थे। तीर्थस्थानों में भी अनाचार फैला था। शास्त्र का स्पष्ट और सत्यज्ञान किसीको न था। आधिदैविक स्वरूप अनुभव नहीं दे रहे थे। ऐसे समय

उन्होंने सच्चा-सरल-स्पष्ट उपाय बताया- "**कृष्ण एव गतिर्मम**।" भगवान् श्रीकृष्ण ही मेरी गति है। प्रवासमें अनेक विद्वानों और धर्माचार्यो का सम्पर्क हुआ; उनके दृष्टि- बिन्दु देखे। उसका विवेचन उन्होंने "जलभेद" नामक ग्रंथमें किया, जिसमें विविध प्रकार के वक्ताओं के स्वरूपों की पहचान करायी है।

भगवदाज्ञा :

प्रवास करते करते श्रीवल्लभाचार्यजी मारवाड की पूर्व- सरहद पर स्थित झारखंड में आये। वहाँ उन्हें प्रभु की प्रेरणा हुई- "श्रीकृष्ण स्वयं देवदमन-स्वरूप में श्रीगोवर्धन-पर्वत में से प्रकट हुए हैं। साथ में नागदमन और इंद्रदमन के स्वरूप भी है।" देवदमन आज श्रीगोवर्धनाथजी या श्रीनाथजी के नाम से विख्यात है। उन्होंने अपनी सेवा का क्रम प्रकट करने की आज्ञा की। इससे श्रीआचार्यजी तुरन्त व्रज की ओर चल पड़े और मथुरा से गोकुल आये। वहाँ श्रीयमुना किनारे पर गोविंदघाट पर निवास किया। उस दिन वि. सं. १५६३ के श्रावण शुक्ला ११ थी। मध्यरात्रि को स्वयं भगवान् श्रीगोपीजनवल्लभ-श्रीकृष्ण प्रकट हुए और साक्षात् दर्शन दिये। श्रीआचार्यजीने पवित्रा अर्पित किया और श्रीमधुराष्टक से श्रीमधुराधिपति की स्तुति की। भगवान् ने श्रीआचार्यजी को दैवीजीवों का उद्धार करने की आज्ञा दी, मंत्र दिया, जीवों को शरण में लेनेका आदेश दिया और श्रीआचार्यजी द्वारा शरण में आये हुए जीवों

को स्वयं अंगीकार करनेका वचन दिया । तबसे सर्वात्मभाव पूर्वक आत्मनिवेदन की दीक्षा का आरंभ हुआ । वह दिन “पवित्रा-एकादशी” के नाम से प्रसिद्ध हैं । स्वयं को प्राप्त हुई भागवतधर्म-संमत, साक्षात् भगवान् ने प्रकट होकर दी हुई दीक्षा श्रीआचार्यजीने अपने अत्यंत प्रिय सेवक दामोदरदास हरसानीजी को दूसरे दिन सुबह दी । “सिद्धान्तरहस्य” नामक छोटेसे ग्रंथ में श्रीआचार्यजीने इस दीक्षा की आज्ञा और उस आज्ञा के स्वरूप संबंधी स्पष्ट निरूपण किया हैं ।

“श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि।
साक्षाद् भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते॥”

श्रावण मास के शुक्ल पक्ष में एकादशी की मध्यरात्रि को साक्षात् भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने जो कहा है वह मैं अक्षरशः कहता हूँ ।

ब्रह्मसंबंध :

“ब्रह्मसम्बन्ध - करणात्सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पंचविधाः स्मृताः॥”

ब्रह्मसंबंध करने से सर्व प्राणियों के देह और जीव संबंधी सब तरह के दोष दूर हो जाते हैं । लोक और वेद में दोष के पाँच प्रकार बताये गये है : (१) सहज-दोष, (२) देश-काल से होनेवाले दोष, (३) संयोग दोष, और (४) स्पर्श से उत्पन्न दोष । ये सभी दोष ब्रह्म के साथ संबंध होने से निवृत्त हो जाते हैं, अन्य किसी प्रकार दूर नहीं होते । गंगाजी के प्रभाव के कारण प्रवाह-पतित सब पानी गंगारूप बनता है,

उसी तरह निर्दोष ब्रह्म के संबंध से निर्दोषता प्राप्त होती है और दोष सेवा में बाधक नहीं होते । ब्रह्म-संबंध-संस्कार मिलने के बाद असमर्पित-वस्तुके उपयोग से पुनः दोष का संबंध न हो, इस के लिए सावधान रहना चाहिए । लोक-वेद-निरूपित-दोष ।

श्रीवल्लभाचार्यजी ने इस भक्ति-मार्गीय-दीक्षा का “ब्रह्मसंबंध” नाम प्राप्त किया । अब तक आकर ग्रंथों के शास्त्रीय सिद्धान्त रूप में “साकार ब्रह्मवाद” या “शुद्धाद्वैत” उन्होंने प्रकट किया था ; अब प्रेमप्रचुर “पुष्टिमार्ग” प्रकट किया । यही स्वतंत्र भक्तिमार्ग अथवा निर्गुण भक्तिमार्ग हैं ।

पुष्टिमार्ग :

“पोषणं तदनुग्रहः” पोषण अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण का अनुग्रह यानी कृपा । भगवान् जिस जीव को स्वीकार करना चाहते हैं, उस जीव पर कृपा करके उसको अपना बनाते हैं । इसे वरण कहते हैं । वेद में भी बताया है कि **“यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः ।”**- भगवान् जिस किसी जीव का वरण करे वह उसे मिले, अन्य किसी भी उपाय या साधन से भगवान् नहीं मिलते । भगवान् की कृपा से ही यह संभव होता है । कृपा का यह मार्ग “पुष्टिमार्ग” है । खा-पी कर खुश होने का या शरीर से पुष्ट होने का यह मार्ग नहीं है । (भगवान् के) स्वरूप बल से (भगवान् के) स्वरूप की प्राप्ति पुष्टि है ।

आनन्दमय भगवान् जिसका वरण करे-जिस पर

कृपा करे–उसे वह मिले ! आनंद की अल्प मात्रा से मानव जिन्दा रहता है, और आनंद पाने के लिए ही तो वह अनेक उपाय करता है । भोजन, वस्त्र, प्रवास, मौज–शौख, स्वजन–मिलन, वाँचन इत्यादि द्वारा आनंद पाने की कोशिश करता है और कभी–कभी आनंद की कुछ झाँकी उसे उसमें हो जाती है, पर वह तो आभास मात्र है । संपूर्ण–सत्य और शाश्वत आनंद नहीं मिलता तब वह घबराता है । मनुष्य अपने लौकिक आनंद से लेकर मुक्ति से मिलने वाले आनंद तक प्रयत्न करता है, फिर भी संपूर्ण आनंद नहीं पाता । उपनिषदों में ऐसे विविध आनंद बताये हैं ।

आनंद–गणना :

सदाचारी, युवान, विद्यासंपन्न, स्वस्थ, बलवान मनुष्य को विपुल वैभव युक्त पृथ्वी का राज्य मिलने पर जो आनंद होता है वह केवल मानवीय आनंद है । गिनती करने के लिए उसे इकाई ठहराएँ तो वह एक आनंद है । उससे सौ गुना आनन्द मनुष्य–गान्धर्व को है । उससे सौ गुना आनन्द पितृलोक में स्थिर रहने वाले को है । उससे सौ गुना आनंद आजानज नामक देवों को है । उससे सौ गुना आनंद कर्मदेवों को है । उससे सौ गुना आनंद देवों का आनंद है । उससे सौ गुना आनंद इन्द्र का है । उससे सौ गुना आनंद बृहस्पति का है । उससे सौ गुना आनंद प्रजापति का है । प्रजापति के आनंद से सौ गुना आनंद ब्रह्म का एक आनंद है । वह है मुक्ति का आनंद !

इन सब आनंदो की तो गिनती हो सकी, इस लिए वह तो गणित–गिना हुआ–आनंद है, अनगिनत–अनंत–संपूर्ण–आनंद नहीं । श्रीवल्लभाचार्यजी इस बात को अपने "कृष्णाश्रय" ग्रंथ में समझाते हैं कि **"गणितानंदकं बृहत् ।"** ब्रह्मका आनंद गणित है – परिमित है, लेकिन **"पूर्णानंदो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ।"** पूर्ण–अपरिमित–अगिनत आनंद रूप तो भक्त के दुःखो को हरने वाले भगवान् हरि हैं । इसलिए श्रीहरि–कृष्ण ही मेरी गति–फल हैं । वेदों में कृष्ण को ही परब्रह्म कहा है, और उसका अर्थ भी स्पष्ट किया है :

"कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥"

"कृष्" सत्तावाचक शब्द है । **"ण"** आनंद–सुख–वाचक है । इन दोनों की एकता परब्रह्म हैं । **कृष् + ण = कृष्ण है ।** वह **सत् + आनंद** सदानंद है । इस तरह सदानंद, पूर्णानन्द, नित्यानंद रूप परब्रह्म जो हे, वह **"कृष्ण"** कहलाता है । अतः कृष्णके संबंध से प्राप्त होनेवाला आनंद ही संपूर्ण–सत्य–हमेशां का आनंद है । यह पूर्ण–निरवधि–आनन्द ही फलरूप है । यह परब्रह्म कृष्ण ही मूल–रूप है । सृष्टि के आदि– मध्य–अंत में भी वे ही होते हें । उनके स्वरूप–नाम–लीला आदि नित्य हैं । अवतार के समय वे प्रकट होते हैं, अनुभव देते हैं । अनवतार–दशा में वे सबको दर्शन नहीं देते, अप्रकट रूप में लीला तो होती ही रहती है ।

ब्रह्मसंबंध–प्रक्रिया :

कृष्ण–संबंध रूप दीक्षा को ही “ब्रह्मसंबंध” कहा है, फिर भी उसको “कृष्णसंबंध” न कहकर “ब्रह्मसंबंध” कहा है । यह वैदिक दीक्षा है ; भगवदाज्ञा से वह प्रसिद्ध हुई है । यह इससे स्पष्ट हो जाता है । श्रुति में “ब्रह्म”, गीता में “परमात्मा” और भागवतजी में “भगवान्” के नाम से एक ही तत्त्व पहचाना जाता है और वह है– “कृष्ण !”

“ब्रह्मसंबंध” दीक्षा में दो कक्षाएँ–दो विभाग हैं– (१) नाम–दिक्षा यानी शरण–दीक्षा (२) आत्मनिवेदन या ब्रह्मसंबंध । श्रीवल्लभाचार्यजी ने कइयों को नाम–संबंध कराया है । और कइयों को आत्म–निवेदन कराया है । सामान्य कक्षा का जीव शरण में आने पर उसे नाम–संबंध कराया है और विशेष प्रकार की योग्यता रखनेवाले दैवी–जीव के शरण में आने पर, उसकी परीक्षा करके, उसे आत्मनिवेदन कराया है । श्रीवल्लभाचार्यजी ने ऐसे दैवी–जीवों के लक्षण “तत्त्वार्थ–दीप निबंध” के “सर्वनिर्णय” प्रकरण में बताये हैं कि :

“एतादृशस्तु पुरुषः कोटिष्वपि सुदुर्लभः॥
यो दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा कृष्णे परं भावं गतः प्रेमप्लुतः सदा॥”

जिसने स्त्री, घर, पुत्र, स्वजन, प्राण धन, इहलोक और परलोक–सबका परित्याग करके, भगवान् श्रीकृष्ण में परम भाव प्राप्त किया है, जो प्रेम में सदा सराबोर है, ऐसा पुरुष तो करोडों में भी सुदुर्लभ है । संभवतः ऐसे लक्षणोंवाले जीव को दैवी–जीव मानकर श्रीआचार्यजी ब्रह्मसंबंध देते थे । अन्य जीवों को नामसंबंध कराते थे । वे सब “नामधारी” भी कहलाते थे । इसलिए श्रीआचार्यजी ने ऐसे निर्गुण ८४ जीवों को ही ब्रह्मसंबंध देकर कृष्ण–लीला–संबंध कराया था । ऐसा प्रसिद्ध हैं । संप्रदाय में इन महानुभावों के जीवनप्रसंग “८४ वैष्णवों की वार्ता (कथा)” नाम से प्रसिद्ध हैं ।

भगवान् ने गीता में आज्ञा दी है : **“सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज”** – सब धर्मो का परित्याग करके–एक मात्र मेरी शरण में श्रीकृष्ण की शरण में आ । मैं तुझे सब पाप–दोषों में से मुक्त करूँगा । इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण की शरण में जानेवाला समस्त पाप या दोषों से मुक्त हो जाता है । शरण में कोई भी जीव जा सकता है । इस में देश–काल– धर्म–जाति–उम्र–ज्ञाति आदि बाह्य वस्तुएँ गौण हैं । शरीरधारी कोई भी जीव भगवान् श्रीकृष्ण की शरणागति कर सकता है । कलियुग में शरणागति ही कृतार्थ करने वाला सरल साधन हैं । सुख–शांति उससे सुलभ होते हैं ।

श्रीवल्लभाचार्यजी ने अपनी पुत्रपरंपरा में भी दीक्षा देने का अधिकार दिया है । किसी भी जीव को जब भी भावना जागृत हो, तब वह प्रभु की शरण में जा सकता है । दीक्षा पाकर वह **“वैष्णव”** कहलाता है । भक्तिमार्ग में उसका वरण व्यक्त होता हैं । शरण में आनेवाले को उसके गुरुदेव **“श्रीकृष्णः शरणं मम”**

इस अष्टाक्षर-मंत्र का उपदेश देकर कंठ में तुलसी की माला पहनाते हैं। "श्रीकृष्ण का मैं शरणागत हूँ" इस उपदेश द्वारा अपना आश्राय-आधार और रक्षक श्रीकृष्ण है-यह भावना जीव को दृढ होती है। दुनियाई-लौकिक और परलोक संबंधी सभी बातों में भगवान् पर ही निर्भर रहना; भगवान् सब भय से रक्षा करते हैं, ऐसी भावना शरण में आनेवाले जीवको अपने मनमें दृढ करनी चाहिए। शरण में आनेवाले किसी भी सामान्य जीव के लिए यह प्राथमिक दीक्षा-नाम-संबंध- हैं।

भगवान् की सेवा के लिए जीवको छटपटाहट हो, प्रभु में उत्कट प्रेम हो, तो आत्म-निवेदन यानी ब्रह्मसंबंध नामक द्वितीय कक्षा की दिक्षा दी जाती है। योग्यतावाले जीवको दोनों दीक्षाएँ एक साथ भी दी जाती है। ब्रह्मसंबंधसे जीव निर्दोष बनता है और तब वह निर्दोष भगवान् की सेवा का अधिकार प्राप्त करता हैं। अधिकार फलप्राप्ति में उपकारक बनता हैं। भगवान् श्रीकृष्ण की प्राप्ति ही फल हैं। इस मार्ग में भगवान् के संबंध से ही अन्य सब कुछ फलरूप माना जाता सढा है।

ब्रह्मसंबंध-दीक्षा में पदार्थ मात्र पर से जीव अपनी मालिकीपन की आसक्ति उठा लेता है और सब कुछ भगवान् का होनेके कारण भगवान् को समर्पित करता हैं। इस विश्व की सभी वस्तुएँ और व्यक्तियों को भगवान् ने अपनी लीला के लिए, अपने लिए प्रकट की हैं। जीव भी भगवान् का अंश है;

करोडों वर्ष पहले भगवान् की इच्छा से ही, भगवान् में से, वह अलग हुआ है। भगवान् से अलग होने पर जीव में से भगवान् के धर्मो का अनुभव देना बंद हुआ, और जीव को आनंद का अनुभव भी नहीं मिलता। इसलिए अविद्या के कारण अपनी सुध खो बैठा, अतः उसे बंधन और विपरीत-गति प्राप्त हुई हैं। उसने अविद्या के कारण सब जगह आसक्ति की है। उस आसक्ति से उसमें अहंता-ममता (मैं-मेरापन का भाव) आया। यह अहंता और ममता ही **"संसार"** है; उसके बंधन में जीव बँधता है। भगवान् से विमुख हो वह दूर दुर चला जाता है। अनेक दोष उसमें आते हैं और जन्म- मरण में भटकता है। इस दुःख और बंधन से मुक्त होने के लिये आसक्ति छोडनी चाहिए। इसके लिए जीव अपने माने हुए सभी पदार्थ, अपना सब कुछ भगवान् को समर्पित करता है। स्वयं भगवान् का दास है, ऐसी भावना दृढ करता है। **"हे कृष्ण मैं तुम्हारा ही हूँ"** - ऐसी अनन्यता विकसित करता है।

सम्प्रदाय में यह दीक्षा देने पर अत्यंत पवित्रता रखी जाती है। यह **"अस्पर्श"** कहलाता है। उसका अपभ्रंश **"अपरस"** हुआ है। उस में तन और मन दोनों की संपूर्ण पवित्रता भगवदर्थ रखी जाती है। बाहर की किसी वस्तु या व्यक्ति का स्पर्श वर्ज्य है। इस प्रकार की शुद्धि वेदादि-सम्मत है। अस्पर्श में या सेवा के उपयोग में आनेवाली वस्तुओं की शुद्धि का प्रकार भी शास्त्र-सम्मत है। "द्रव्यशुद्धि" में उसका निरूपण हुआ

है । पहले तो जिस गुरुदेव से दीक्षा लेनी है, उसकी आज्ञा लेनी पडती है । फिर शुद्धि के लिए एक दिन का उपवास आज्ञानुसार करना होता है । दूसरे दिन, स्नान करके, जनेऊ और कंठी बदल कर, भगवान् का चरणामृत लेकर, भगवान् के चरण की भावना पूर्वक ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक करके, "**अस्पर्श–अपरस**" किया जाता है, फिर भगवान् के चरण–समक्ष शरण में आनेवाले को गुरुदेव हाथ में तुलसीदल देते हैं, मंत्र का उच्चारण कराते हैं और उपदेश देते हैं । साथ में ही नामदीक्षा देनी हो तो पहले अष्टाक्षर बुलवाकर फिर ब्रह्मसंबंध के मंत्र का उपदेश देते हैं । संप्रदाय में यह मंत्र "**गद्यमंत्र**" के नाम से प्रसिद्ध है । उसके ८४ अक्षर है । इस मंत्र का उच्चार अपरस में ही किया जाता है, सामान्यतः जाहिर में वह नहीं बोला जाता । उस मंत्र का आशय यह हैं ।

"हजारों वर्षो का समय बीता, कृष्ण के हुए वियोग में से उत्पन्न तापक्लेश–युक्त और आनंद के अनुभव रहित ऐसा मैं, भगवान् श्रीकृष्ण को देह–इन्द्रिय–प्राण–अंतःकरण और उसके धर्म, स्त्री–घर–पुत्र–स्वजन–धन–लौकिक पारलौकिक (सब), अपनी आत्मा सहित समर्पित करता हूँ । मैं दास हूँ । हे कृष्ण । आपका हूँ ।"

ब्रह्मसंबंध के गद्यमंत्र में "**तापक्लेश**" शब्दका उपयोग हुआ है । कोशकार के मत से 'ताप' और 'क्लेश' दोनों के अर्थ में भिन्नता है । यहाँ वे पारिभाषिक रूप में हैं । भगवान् के संयोग की

अपेक्षा–कामना–से भक्त के मन में जो संताप होता हैं वह है– 'ताप' ! अपेक्षित 'संयोग' मिलने पर वह 'ताप' शान्त होता है । किसी भी अपेक्षा से रहित, केवल भगवान् के विरह में से उत्पन्न सर्वात्मभाव के ताप से होनेवाला दुःख 'क्लेश' है । वह तो प्रभु के मिलने पर भी बढ़ सकता है । ये दोनों भगवान् के संबंधवाले हैं, इसलिए अलौकिक विशिष्ट आनंद का अनुभव कराते हैं ।

इस गद्यमंत्र में "देह–इन्द्रिय–प्राण–अंतःकरण और उस धर्मो का भी भगवान् कृष्ण को समर्पण करने को कहा गया है । देह–इन्द्रियादि में तो मल–मूत्र–रुधिरादि भरे हुए हैं ; वे जब तक अंदर हैं, चेतन संबंधी है, तब तक मलरूप नहीं हैं, बाहर आने पर वे मलरूप हैं; उनके संबंध से अशुद्धि होती है । देहादि का समर्पण सेवा के लिए आवश्यक साधन के रूप में है । देह–इन्द्रिय के बिना क्या काम हो सकता है ? देह–इन्द्रिय के धर्म–रूप ऐसी क्रियाओं को माने तो भी सानुकूल अर्थ ही निकलता है । मलादि की निवृत्ति से देह सेवा के अनुकूल रहता है, इसलिए वह उत्सर्ग क्रिया भी वैष्णव के लिए तो सेवा का अंग रूप ही है, वह मात्र दैहिक क्रिया नहीं है । वैष्णव के (हृदय में) स्त्री–पुत्रादि की इच्छा या स्वीकार भी प्रभु–सेवा में उपयोगी हों, प्रभु को सुख हो; इस आशय से ही हों, अतः वह भी सेवा के अंग रूप हैं, उसमें कोई दोष नहीं है । इस तरह अंतःकरण और उसके धर्म भी सेवा में उपयोगी बन जाते हैं । स्त्री–पुत्र–धन आदि

का समर्पण भी भगवान् की सेवा द्वारा उनकी कतार्थता और प्रभु– सेवा में विशेष सानुकूलता के लिए है । देहादि और स्त्री आदि पदार्थ जीव ने अपने ही मान लिये है । ममता के कारण उनमें आसक्ति है; यह दोषरूप है । वह सब प्रभु का है, ऐसा समझकर, सेवा में उनका उपयोग करके, इस ममतारूप आसक्ति से छूट सकते हैं । देहादि में "अहं" – भाव है, आसक्ति इसलिए है । "आत्मा" – में समर्पण से दास–भाव की उत्पत्ति होती है और अहंतारूप आसक्ति घटती है । सब कुछ प्रभु का है, अपना कुछ नहीं, स्वयं तो प्रभु का–कृष्ण का– दास है, यह दृढ होने पर, निःसाधन भाव से दीनता का उद्भव होता है । दीनता से प्रभु जल्दी प्रसन्न होते हैं ।

इस मंत्र का उपदेश देकर और उसका उच्चार कराकर दीक्षा लेनेवाले के हाथ से तुलसीदल अपने हाथ में लेकर गुरुदेव भगवान् के चरणों में धरते हैं । फिर प्रभु का प्रसाद देकर उपवास का पारणा (समाप्ति) कराते हैं । यह दीक्षा लेनेवाले के लिए **"कृष्णसेवा सदा कार्या......"** वाली मुख्य आज्ञा है । अपने गुरुदेव की आज्ञा के अनुसार हमेशां कृष्ण-सेवा करनी है । इसमें शरीर से होनेवाली सेवा "तनुजा" कहलाती है और धनादि से होनेवाली सेवा "वित्तजा" कहलाती है । "तनुजा" से "अहंता" कम होवे और "वित्तजा" से "ममता" मिटती है । **"तनुवित्तजा"** कहा है, – इसलिए अपने तनसे और अपने धनसे ही सेवा अपने ही घरमें करनी जरूरी है । तन किसी औरका

और धन किसी औरका हो,तो सेवा फलित नहीं होती है । जीव में दीनता आने पर, जब दोनों प्रकार की सेवाओं को भगवान् स्वीकार करते हैं तब उसके संसारिक सब दुःख दूर हो जाते है और उसे अक्षर–ब्रह्म भगवान् का (सही) ज्ञान होता है और उसका चित्त भगवान् में रमता है । इस प्रकार स्वाभाविक रूप से चित्त का प्रभु में रमना "मानसी" सेवा है । यह मानसी सेवा ही फल रूप है और सर्वोत्तम है । इस तरह सेवा द्वारा तन, धन, मन तीनों से आनन्दपूर्ण कृष्ण के संबंध से जीव को पूर्णानन्द का अनुभव होता है और इससे कृतार्थता होती है ।

मुख्य–आचार :

जो यह दीक्षा लेता हे उसके लिए "असमर्पित–त्याग ।" मुख्य आचार है । श्रीवल्लभाचार्यजी ने "सिद्धान्त–रहस्य" ग्रंथ में इसकी स्पष्ट आज्ञा की है :

असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत्।
निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः॥

"भगवान् को जो वस्तुएँ समर्पित न की गई हों उनका त्याग करना । निवेदन करनेवाला भगवान् को सबकुछ समर्पित करके ही सबकुछ करे" ऐसी मार्ग–मर्यादा है । "हरएक वस्तु का पहले भगवान् की सेवा में उपयोग करना चाहिए । यह उपयोग "विनियोग" कहलाता है । पुष्टिमार्ग में इसकी मुख्यता है । भगवान् को सुख हो–इस तरह की वस्तु का

विनियोग ही सेवा है । इस तरह भगवान् के उपयोग में लेने के बाद मिलनेवाली वस्तु "प्रसाद" है । "प्रसाद" यानी "प्रसन्नता" या कृपा । जीव खूब प्रेमपूर्वक उत्तम-वस्तु का भगवान् को विनियोग करावे, ऐसे प्रेम से प्रभु प्रसन्न होवे, और वस्तु को स्वीकार करे और उसी प्रसन्नता से जीव को वह वस्तु वापस मिले वह "प्रसाद" है । इस तरह प्रसादरूप में मिली हुई वस्तुओं से ही जीवन निर्वाह चलाना है । प्रसादरूप न हों ऐसी वस्तुओं का त्याग करना है ; उनके बिना भी चला लेना है । "**तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्**"– सब कार्यो में पहले सब वस्तुओं का भगवान् को समर्पण, फिर प्रसाद से ही अपना सब तरह का व्यवहार चलाना । मात्र खाने-पीने की वस्तुएँ ही प्रसादी रूप होनी चाहिए, यह पर्याप्त नहीं है । जीवन-व्यवहार में उपयोग में ली जाने-वाली हर वस्तु पहले भगवान् के ही उपयोग में ली जाय, बाद में ही उसका उपयोग अपने लिए किया जाय; भगवान् के दास-सेवक का यही धर्म है । इससे कोई दोष लगता ही नहीं । समर्पित लेने का नहीं कहा है । असमर्पित का त्याग ही कहा है । अर्थात् समर्पित सब लेना जरूरी नहीं है, परंतु सेवा के लिये सन्मुख-स्वस्थ रहे इतना ही ले, परंतु असमर्पित तो नहीं ही ले ।

श्रीवल्लभाचार्यजी महाप्रभुजी के समय में तो यही नियम सबके लिए सर्वसामान्य था, परंतु जैसे जैसे आचार में शिथिलता आने लगी तैसे तैसे लोगों में

दोष दिखने लगे, बढ़ने लगे । ब्रह्मसंबंध से तो सब दोष दूर होते हैं, पर अप्रसादी-वस्तुओं के उपयोग से दोष पैदा होवे और बढ़े भी । श्रीवल्लभाचार्यजी के पुत्र श्री विट्ठलनाथजी के चौथे पुत्र श्रीगोकुलनाथजी ने यह दुर्दशा देखी, तब संपूर्ण-आचारवालों को ओर सामान्य आचारवालोंको अलग अलग बताया । सम्प्रदाय की आचार-मर्यादा का पूरा पूरा पालन करनेवाले को "**मर्यादी**" नाम से पहचानना शुरू किया और बाकी को मात्र "**वैष्णव**" कहा । "**मर्यादी**" शब्द का अपभ्रंश आज "**मरजादी**" हुआ है ।

शरणागत-पालन :

इस प्रकार की ब्रह्मसंबंध की दीक्षा लेनेवाले जीव का भगवान् त्याग नहीं करते । भक्त अंबरीष राजा के प्रसंग में खुद भगवान् ने दुर्वासा ऋषि से कहा है :

"ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम् ।
हित्वा मां शरणं यातास्तान् कथं त्यक्तु मुत्सहे ॥"

"जो जीव स्त्री-घर-पुत्र-आप्तजन-प्राण-धनादि वैभव ऐहिक-पारलौकिक-सब कुछ त्याग करके मेरी शरण में आये हैं उनका त्याग मैं कैसे कर सकता हूँ ?" यहाँ स्पष्ट कहा है कि भगवान् के प्रति प्रकृष्ट प्रेम के कारण सब कुछ छोड़कर, जो भगवान् की शरण में जाता है, उसका त्याग भगवान् कभी नहीं करते ।

प्रभु-सेवारंभ :

श्री-आचार्यजी ने अपने प्रिय-सेवक "दमला"-

दामोदरदास हरसानी को सबसे पहिले यह दीक्षा दी, फिर आप गोकुल से आगे बढ़े । वे आन्योर नामक गाँव में आये । वहाँ के व्रजवासियों द्वारा, श्रीगोवर्धन पर्वत पर प्रकट हुए और देवदमन के रूप में विख्यात, श्रीगोवर्धननाथजी के विषय में सुना । वे वहाँ जाकर अत्यंत आतुरतापूर्वक उनसे गले मिले । पाग–मयूरपिच्छ, परधनी, गुंजामाला आदि का श्रृंगार किया । व्रजवासियों को शरण में लिया और दही–दूध मक्खन आदि देकर सेवा करने की आज्ञा की । यह कार्य सदु पांडे आदिको सौंपा और रामदासजी को सेवा की मुख्य जिम्मेदारी सौंपी । अत्यंत सूक्ष्म–छितरा–पतला–सेवा प्रकार शुरू कराया । स्वयं ने सब से पहले श्रीगोवर्धननाथजी को गाय समर्पित की । भगवान् को अपना सब कुछ मान कर भगवानकी सेवा करने की आज्ञा की । फिर श्री–आचार्यजी व्रजपरिक्रमा करने सिधारे ।

आधिदैविक–स्वरूपानुभव :

परिक्रमा करते करते वे बहुलावनमें आये । वहाँ एक पत्थर की गाय थी । पुराने समय में वहाँ एक सिंह आया था । उसकी गर्जना सुनकर सब प्राणी भाग गये परंतु एक गाय थी जो न भागी । सिंह उस गाय को सूँघकर चला गया । उसको मारा नहीं । लोगोंको यह मालूम हुआ । गायका माहात्म्य बहुत बढ़ा । लोगोंने गाय की पूजा की । गाय दैवी है ऐसा लगा । लोग रोज उसकी पूजा करने लगे । उसके मरने पर

उसकी पत्थर की प्रतिमा बनाकर, उसकी प्रतिस्थापना की और पूजा जारी रखी । मंदिर बनाया गया । ब्राह्मण को पूजारी नियत किया । श्रावण शुक्ला १२ को वहाँ मेला लगता, उत्सव मनाया जाता ; लोग घास–अनाज आदि दे जाते । इस बात का वहाँ के मुसलमान हाकिम को पता चला । उसने उस पूजा पर प्रतिबंध लगाया । लोग खूब नाराज हुए । परिक्रमा के दौरान श्री–आचार्यजी वहाँ पधारे तो लोगों ने फरियाद की । श्री–आचार्यजी ने स्वयं दूसरे दिन सुबह पूजा करेंगे ऐसा कहा । दूसरे दिन सुबह वहाँ बहुत लोग आये, बात फैल गयी थी । हाकिम भी आया । उसने मनाई फरमाई : “पथ्थर की पूजा क्यों हो ?” गाय सचमुच की हो तो घास खिलाकर दिखाओ; तभी पूजा हो सकती है । श्री–आचार्यजी ने घास मँगाकर गायकी प्रतिमा के सामने रखी । गाय घास खाने लगी । सब दंग रह गये । हाकिम घबरा गया । चरणों में नमन करके चला गया । लोग खूब राजी हुए ; शरण में आये । तब से उस गाय की पूजा फिर शुरू हुई । देव–तीर्थ–आदि जड़ जैसे स्वरूप के दिखाए देते हैं; उनके आधिदैविक स्वरूप का अनुभव नहीं देते । इसलिए उनका प्रत्यक्ष माहात्म्य सबकी समझ में नहीं आया, परंतु उनका आधिदैविक स्वरूप प्रकट होने पर अनुभव साक्षात् होता है । भक्तजन और योगियों को उसका अनुभव होता है और समर्थ–पुरुषों की कृपा से सामान्य मनुष्यों को भी वह अनुभव प्राप्त होता है ।

व्रज–परिक्रमा दरमियान श्रीवल्लभाचार्यजी ने श्री–

गिरिराजजी में श्रीनाथजी का अन्नकूट उत्सव मनाया। मथुरा में विश्रामघाट पर भाईबीज (भैया दूज) के दिन स्नान कर के परिक्रमा को पूरा किया। श्रीयमुनाजी की अपार महिमा को "श्रीयमुनाष्टक" में खूब गाया है। सूर्यपुत्री कालिन्दीजी द्वारका-लीला में चौथी राजपत्नी हैं। श्रीयमुनाजी का प्रादुर्भाव सूर्यमंडल में बिराजनेवाले भगवान् नारायण के हृदय में से हुआ है। व्रजलीला में-पुष्टिलीला में वे (चौथी) कृष्णप्रिया है।

ग्रंथ-लेखन :

श्रीआचार्यजी ने काशी में निवास किया। गृहस्थाश्रम के अनुसार अग्निहोत्र लेकर वे कर्तव्यरत हुए। व्रजयात्रा दरमियान माधव भट्ट काश्मीरी मिले। उन्होंने श्रीआचार्यजी के आदेश के अनुसार मुंशी की (कातिबकी) तरह सेवा की। श्रीमद्भागवत-विषयक आचार्यजी के विवरण की नकल लिखी। आचार्यजी बोलते जाते थे, माधव भट्ट लिखते जाते थे। आचार्यजीने माधव भट्ट से बहुत-सा साहित्य लिखवाया है। श्रीभागवत तो अतिप्रिय हैं। उसके परंपरागत सात अर्थ हैं। उनमें से चार "तत्त्वार्थ दीप निबंध" में और तीन "श्री- सुबोधिनी" में हैं। क्रमशः शास्त्र, स्कन्ध, प्रकरण, अध्याय, श्लोक, शब्द और अक्षर। इन सातों का सुसंवादित अर्थ हैं। सातों प्रकार से मुख्य अर्थ समझ में आवे तो कृतार्थता है और संसार में से मुक्ति मिलती है। आनन्दरूप हरि-श्रीकृष्ण-की लीला ही श्रीभागवतशास्त्र का अर्थ है। श्रीभागवत भगवान् श्रीकृष्ण-(श्रीगोवर्धननाथजी) का नामात्मक स्वरूप हैं।

अवतार-प्रयोजन :

श्रीआचार्यजी स्पष्ट रूप से कहते हैं कि मेरा अवतार श्रीमद्भागवत का अर्थ स्पष्ट रूप से समझाने के लिए हुआ है : -

> **"अर्थं तस्य विवेचितुं नहि विभुर्वैश्वानराद्वाक्पते-**
> **रन्यस्तत्र विधाय मानुषतनुं मां व्यासवच्छ्रीपतिः।**
> **दत्वाज्ञां च कृपावलोकनपटुर्यस्मादतोहं मुदा**
> **गूढार्थं प्रकटीकरोमि बहुधा व्यासस्य विष्णोः प्रियम्॥**

"उस (श्रीभागवत) के अर्थ का विवेचन करने को वाणी के पति वैश्वानर के सिवाय अन्य कोई समर्थ नहीं है व्यासजी की तरह मुझे भी मानव देह देकर अर्थ को प्रकट करने की आज्ञा दी और कृपाकटाक्षनिपुण हुए (कृपा की), अतः व्यासजी और भगवान् को प्रिय लगे ऐसा गूढार्थ मैं बहुत प्रकार से (सात प्रकार से) प्रकट करता हूँ।"

भावात्मक-स्वरूप :

स्वयं वैश्वानर-अग्नि-का अवतार है, ऐसा श्री-आचार्य जी यहाँ स्पष्ट कहते हैं। सम्प्रदाय की भावना के अनुसार श्रीआचार्यजी श्रीकृष्ण ही हैं, श्रीकृष्ण के मुखरूप हैं, विरहाग्निरूप हैं, श्रीस्वामिनी-रूप हैं, नित्यलीला के साक्षीरूप भी हैं।

श्रीमद्भागवत के अर्थ को प्रकट करने के लिए अपना अवतार हुआ है। ऐसा स्पष्ट रूप से कहनेवाले

यह एकमात्र वे एक ही हैं । श्रीमद्भागवत प्रभु में प्रीति करानेवाला हैं । प्रयत्नपूर्वक, आदरसहित, उसका नियमित सेवन करना चाहिए, आचार्यजी की यही आज्ञा है ।

भक्तादर :

श्रीआचार्यजी काशी के पास चरणाद्री में थोड़ा समय रहकर फिर प्रयाग के पास अडेल में आये । वहाँ उन्होंने स्थाई निवास किया । वहाँ श्रीमधुसूदन सरस्वती, श्रीकृष्ण चैतन्य आदि भी मिलते थे । आचार्यजी बार-बार व्रज-यात्रा भी करते थे ।

आचार्यजी अडेल गाँव में थे तब एक बार दोपहर के समय राजभोग हो गया था । सब ने प्रसाद ले लिया था । इतने में प्रसिद्ध भक्त श्रीकृष्ण चैतन्य पधारें । उन दिनों "महाप्रभु" दो व्यक्ति माने जाते थे : एक श्रीवल्लभाचार्यजी और दूसरे श्रीकृष्ण-चैतन्यजी । पधारे हुए कृष्ण-चैतन्य का- खूब प्रेम पूर्वक सत्कार किया गया । प्रसाद की पत्ताल तैयार करने की आज्ञा दी गई, लेकिन दैवयोग से उस दिन प्रसादी में से कुछ बचा नहीं था । महालक्ष्मीजी ने रसोई तैयार की और भगवान् को जगा कर (बाल) भोग धरने को आचार्यजी से विनंती की । उस समय आचार्यजीने अद्भुत भक्त-आदर प्रकट करते हुए भक्तों का सच्चा स्वरूप बताया कि "भगवान् तो भक्त के वश हैं । श्रीचैतन्य के हृदय में भगवान् श्रीकृष्ण बिराजते हैं । वे भोग आरोगेंगे ।" इस तरह सामान्य मर्यादा को लाँघकर, भक्त की और भक्ति की विशिष्टता बताई । आचार्यजी ने ऐसा भक्त-समादर अपने "जलभेद" ग्रंथ में भी किया है ।

"पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः ।
जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ॥"

"शेष, व्यास, अग्नि, वायु, जडभरत, नारद, मैत्रेय आदि जो पूर्ण भगवदीय हैं वे समुद्र (पूर्ण गंभीर) कहे गये हैं । उनमें शेष रामानुजाचार्य के रूप में, व्यास विष्णुस्वामी के, अग्नि वल्लभाचार्यजी के, वायु मध्याचार्यजी के, जडभरत रामानन्दजी के और नारद कृष्णचैतन्य के रूप में प्रसिद्ध हैं ।

प्रभुनाम-महिमा :

फिर दोनों का समागम हुआ । प्रभु-नाम-माहात्म्य की चर्चा हुई । "भगवान् का नाम अलौकिक है । सर्व दोषों को दूर करनेवाले है । एक बार भी प्रभु का नाम लेने से जीव कृतार्थ हो जाता है ।" आचार्य चैतन्य ने अपना मत दर्शाया । यह सुनकर श्रीवल्लभाचार्यजी ने प्रत्युत्तर में कहा- "निःशंक भगवान् के नाम में सर्व-सामर्थ्य है, परन्तु नाम लेनेवाला जीव लौकिक हैं । इसलिए एक बार भी भगवन्नाम चूक जाय तो सब गतार्थ हो जाय । इसीलिए "नवरत्न" ग्रंथ में श्री-आचार्यजी ने सतत और नित्य अष्टाक्षर का जप करने को कहा है :

"तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम।
वद्‌दभिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ॥"

"भगवान् हमारा सर्वस्व है। ऐसे भावसहित हमेशां सतत "श्रीकृष्णः शरणं मम" बोलते ही रहना चाहिए, ऐसा मेरा अभिप्राय है।" एक क्षण के लिए भी भगवान् को भूलें तो भव में भटकना पडे।

सुयोग्य-गुरु :

व्रजयात्रा के दौरान आचार्यजी बरसाना के पास गहवर-बन में आये वह वन बहुत घना था। वे वन देख रहे थे कि सामने एक विचित्र दृश्य दीख पडा। वहाँ एक बहुत बड़ा अजगर था। वह तडफडा रहा था। अनगिनत चींटियाँ उससे चिपकी हुई, उसकी खाल नोंच रही थीं। यह देख आचार्यजी को बड़ी दया आई। उन्होंने उस पर चरणोदक छिड़का। सबको मुक्ति मिली। लेकिन आचार्यजी बड़े सोच में पड़ गये। वे मौन हो गये और मुँह पर ग्लानि छा गई। साथ के वैष्णवों के बारबार कारण पूछने पर आचार्यजी ने उत्तर दिया : "यह अजगर पूर्वजन्म में वृन्दावन में एक बड़ा महन्त था। उसके अनेक शिष्य थे। महंत ने उनसे विपुल द्रव्य लिया और ऐश-आराम से जिया। प्रभु का सच्चा मार्ग शिष्यों को बताया नहीं। इसलिए सेवक भी ऐश-आरामी हो गये। अतः मृत्यु के बाद महंत अजगर हुआ और शिष्यगण चींटियाँ। ये सब चींटियाँ उसे काट काटकर ठगाई का बदला ले रही थीं। अपने शिष्यों का कल्याण न कर सकनेवाले को गुरु नहीं बनना चाहिए।" आचार्यजी स्वयं समर्थ थे तो भी वे गंभीर हो गये थे, उनका गंभीर होना यह बताता है कि श्रीवल्लभाचार्यजी जागृत गुरु थे। "तत्त्वार्थदीप-निबंध" में गुरु का लक्षण उन्होंने स्वयं बताया है :-

"कृष्णसेवापरं विक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्।
श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेज्जिज्ञासुरादरात्॥"

"कृष्णसेवा में रत, दंभादि से रहित, श्रीभागवत के तत्त्व को जाननेवाले पुरुष को पूरा पूरा परखकर जिज्ञासु जन को आदर पूर्वक (गुरु के तौर पर) उसके द्वारा कृष्ण को भजना चाहिए।

पुत्र द्वारा कृपा :

श्रीआचार्यजी के दो पुत्र थे। बड़े श्रीगोपीनाथजी जो बलरामजी का अवतार माना जाता है और दूसरे श्रीविट्ठलनाथजी जो 'प्रभुचरण' के नाम से पहचाने जाते हैं। वे साक्षात् पुरुषोत्तम का अवतार माने जाते हैं। दोनों बाल्यकाल से भागवत-परायण थे। जनेऊ संस्कार के बाद श्रीगोपीनाथजी संपूर्ण भागवत का पाठ पूरा करके ही प्रसाद लेते थे; ऐसा करने में कभी कभी दो-तीन दिन भी लग जाते थे। श्रीविट्ठलनाथजी भागवत के दशमस्कन्ध का नित्यपाठ करने के बाद प्रसाद लेते थे। उन्हें भी उसमें खूब समय लगता था। यह देखकर कृपाविष्ट होकर भगवद्भाव-निमग्न होकर श्रीआचार्यजी ने भागवत के साररूप भगवान् के हजार नाम छाँटकर **"श्रीपुरुषोत्तम-नाम-सहस्र-स्तोत्र"** की रचना की। उसके पाठ से श्रीभागवत के पाठ का फल मिलता है। तदुपरान्त दशम-स्कन्ध के साररूप

भगवान् की लीलाओं के नाम प्रकट किये जो **“त्रिविध–लीला–नामावली”** के नाम से प्रसिद्ध हुए । उसके पाठ से प्रभु में प्रेम, आसक्ति और व्यसन होता हैं । प्रभु में प्रेम होने से अंतःकरण में से रागद्वेष निकल जाता है; उनमें आसक्ति होनेसे घर में दिल न लगे, प्रभु के बिना चैन न आये, संसार के सब संबंध और सुख बेचैनी पैदा करे, प्रभु के सिवाय कोई और कुछ भी प्यारा न लगे । प्रभु में व्यसन होने पर कृतार्थता लगे । किसी भी प्रकार के व्यसनवाले को व्यसन के पदार्थ बिना बेचैनी होती है, इसी तरह प्रभु के व्यसनी को प्रभु के बिना हमेशां बेचैनी ही रहती है, वह निरंतर प्रभु में ही मग्न रहता है । पुत्र के लिए यह ग्रंथ रचकर आचार्यजी ने सब पर कृपा की ।

पुनः भगवदाज्ञा :

श्रीआचार्यजी के प्रथम पुत्र श्रीगोपीनाथजी का वि. संवत १५७० में भाद्रपदवदी १२ को प्रादुर्भाव हुआ और दूसरे पुत्र श्रीविट्ठलनाथजी वि. सं. १५७३ में मार्गशीर्ष वदी ९ के दिन प्रकट हुए । दिल्ली के शाहनशाह अकबर की ओर से “गोस्वामी” का पद और सनदों की भेंट मिलने पर वे “श्रीगुसांईजी” के नाम से प्रसिद्ध हुए । श्रीआचार्यजी अपने परिवार के साथ भी व्रजयात्रा करते थे । श्रीनाथजी की सेवार्थ मंदिर आदि की व्यवस्था करके कृष्णदासजी पटेल को अधिकारी (व्यवस्थापक) नियत किया और कुंभनदासजी को कीर्तन–सेवा सौंपी । यात्रा के दौरान भगवान् की दो

आज्ञाएँ हुईः । भगवान् श्रीआचार्यजी को अपनी लीला में बुला लेना चाहते थे अतः पहली आज्ञा गंगासागर संगम पर हुई । दूसरी आज्ञा मधुवन में हुई, परंतु भगवत्–कार्य करने के हेतु उनपर तत्काल अमल न किया । भागवत के गूढार्थ रूप श्रीसुबोधिनी का लेखन–कार्य चल रहा था, उसकी गति बढ़ाई । पहेले तीन स्कंध लिख कर अति–महत्त्व के, प्रभुकी मुख्य लीलारूप, दशम स्कंध को लिखा, फिर ग्याहरह्वाँ का आरंभ किया । इस दरमियान तीर्थयात्रा तो चल ही रही थी ।

भक्तिमार्गीय–रीति से सन्यस्त :

प्रभुकी प्रबल इच्छा मुझे बुला लेने की हैं, ऐसा अब श्रीआचार्यजी ने जाना और प्रभु के लिए प्रेम से परित्याग करने की प्रणाली स्थापित करने को सोचा । कर्ममार्गीय और ज्ञानमार्गीय त्याग यानी संन्यास की दशा का पक्का विचार किया । “संन्यासनिर्णय” ग्रंथ जो बनाया था, उसके अनुसार भगवान् के विरह के अनुभव के लिए त्याग–संन्यास ही सर्वोत्कृष्ट हैं ऐसा निर्णय किया और पत्नी की अनुमति प्राप्त की । एक दिन घर में आग लगी हुई बतायी । उस समय आचार्यजी अंदर थे । पत्नी ने झट आवाज दी– “घर से बाहर निकलो ।” उन्होंने उस समय घर को छोड़ा । अपने दो बालकों को श्रीदामोदरदास हरसानी को सुपुर्द किया और काशी पहुँचे । त्रिदंड संन्यस्त धारण किया । हनुमानघाट पर विराजमान हुए । मौन धारण

किया। अंतःकरण को समझाने मिस "अंतःकरण प्रबोध" ग्रंथ लिखकर कृष्ण-सेवा और कृष्ण-लीला-रसानुभव तथा सर्वसमर्पण से ही कृतार्थता है यह आपने प्रकट किया। ४० दिन पर्यंत आपने अनशन किया और अपने को "कृष्णदास" बताया। अब लोगों को लौकिकवत् शरीर का दर्शन नहीं कराना था। जल में पधार रहे थे तब उनके दो बालक आये। एक उदात्त पिता, धुरंधर आचार्य और भगवद्- भक्त की हैसियत से रेत में "शिक्षाश्लोक" लिखकर उन्हें सीख दी।

स्वजन-शिक्षा :

किसी भी तरह भगवान् से जब तुम विमुख होंगे तब कालप्रवाह में रहे हुए देह-चित्त-आदि तुम्हें खा जाएँगे। भगवान् श्रीकृष्ण लौकिक शेठ जैसे नहीं हैं। लौकिक को वे नहीं मानते। हमारा सब कुछ, इहलोक या परलोक संबंध सर्वस्व भगवान् ही है। ऐसे संपूर्ण भाव से गोपीश भगवान् श्रीकृष्ण की सर्वथा सेवा करनी चाहिए; वे हमारा सब कार्य करेंगे।

तिरोधान :

यह उपदेश देकर गंगाजी के जल में पधारे। तेजः स्तंभ के रूप में दीखकर वे दर्शन देते बंद हुए। इस तरह भौतिक रीति से देह के दर्शन बंद हुए। संप्रदाय में **"आसुरव्यामोह- लीला"** कहते हैं। अयोग्य लोगों को मोह पैदा करने, अनायास ही उन्होंने हर्ष पूर्वक यह चेष्टा की थी। इसके बाद भी उन्होंने भद्रभाव-युक्त अनन्य भक्तों को दर्शन दिये है; वे नित्य विराजते हैं।

गंगाजी के किनारे पर उस समय साक्षात् श्रीगोवर्धननाथ-जी प्रकट हुए। दोनों बालकों को आश्वासन देते हुए बोले "मेरे में, श्रीगोपीजनवल्लभ में (जो) विश्वास है तो तुम कृतार्थ हो। अन्यथा रूप छोड़ कर स्वरूप-प्राप्ति वही मुक्ति हैं।" श्रीकृष्ण का **"गोपीजनवल्लभ"** नाम श्रुतिसद्ध है। श्रीआचार्य- जी का तिरोधान वि. सं. १५८७ के आषाढ़ सुद दूज-तीज (रथयात्रा) के दिन हुआ। इस तरह चम्पारण में प्रकटित दिव्य अग्निपुंज सर्वत्र प्रकाश फैलाकर काशी में प्रकाश पुंज के रूप में लीलानिकुंज में लीन हो गया।

तेजस्वी-परंपरा :

श्रीदामोदरदास, राणाव्यास आदि ने मिलकर कुटुंब की सुव्यवस्था की। बालकों के लिए सम्प्रदाय की शिक्षा का प्रबंध किया। वे जाग्रत प्रहरी थे। श्रीविट्ठलनाथजी (श्रीगुसांईजी बचपन में हास्यविनोद करते थे। दामोदरदास ने यह देखा आचार्य की गढाई करनेवाले और खिलवाड़-रूप बाधाओंको दूर करनेवाले उद्गार अंतःकरण से निकले : "यह मार्ग तापक्लेश का है, हँसी-मजाक खेल खिलवाड का नहीं।" श्रीआचार्यजी के सेवकों ने श्रीगुसांईजी को सच्चे अनन्य आचार्य के रूप में प्रकट करने के लिए पूरी सावधानी रखी। बड़े पुत्र श्रीगोपीनाथजी तो पत्नी-पुत्रादि को पीछे छोड़, भगवदेकतान होकर

जगन्नाथपुरी के समुद्र में लीन हो गये । श्रीविट्ठलनाथजी गुसांईजी ने आचार्य पद को बाद में स्वीकार किया । श्रीआचार्यजी के अपूर्ण ग्रंथो को पुरा करने का प्रयत्न उन्होंने पुत्र की हैसियत से किया । श्रीवल्लभाचार्यजी महाप्रभुजी ने श्रीनाथजी की जो सूक्ष्म-सेवा प्रकट की थी उसका विस्तार किया । वैभवपूर्ण, भाव सभर और अनेक कला-कलाप-युक्त श्रीनाथजी की सेवा-प्रणालिका शुरू की । संगीत, चित्र, पाक़शास्त्र, कढाईकाम, आदि का संपूर्ण समन्वय उन्होंने उसमें किया । ऋतुओं के अनुसार ही सेवा, शृंगार, सामग्री, सजावट आदि होने लगे । इस तरह प्रभु की सेवा में उपयोगिनी बनकर राग-भोग-शृंगार कला भी कृतार्थ हुई । इस सेवा-प्रणालिका का समादर स्वामिनारायण-सम्प्रदाय के संस्थापक श्रीसहजानन्दजी स्वामी ने अपनी "शिक्षा-पत्री" में मुक्तकंठ होकर किया है :

"सर्ववैष्णवराज-श्रीवल्लभाचार्यनन्दनः ।
श्रीविट्ठलेशः कृतवान् यं व्रतोत्सवनिर्णयम्।
कार्यास्तमनुसृत्यैव सर्व एव व्रतोत्सवाः।
सेवारीतिश्च तस्यैव ग्राह्या तदुदितैव हि॥"

सर्व वैष्णवराज श्रीवल्लभाचार्यजी के पुत्र श्रीविट्ठलेश्वरजी ने जो व्रत-उत्सव-निर्णय किया हो उसका अनुसरण करके ही सर्व व्रतोत्सव करना और उनकी कही हुई उनकी ही सेवारीति ग्रहण करनी है ।

श्रीगुसांईजी ने अनेक स्वतंत्र ग्रंथ भी प्रकट किये हैं, अनेक शास्त्रार्थ प्रसंगो में विजय पायी है और

अनेक बार तीर्थयात्राएँ भी की हैं । उन्होने मुख्य "२५२ वैष्णवों को स्वीकार किया हैं । जिनके जीवन-प्रसंग २५२ वैष्णवो की वार्ता" नाम से प्रसिद्ध हैं । तानसेन, बीरबल, टोडरमल और शहनशाह अकबर भी श्रीगुसांईजी के प्रभाव से प्रभावित थे । अन्य अनेक राजा-रानी भी सेवक बने थे । अष्टसखाओं के कीर्तन 'अष्टछाप' नाम से प्रसिद्ध हुए । इस सम्प्रदाय में अष्टसखाओं ने आँखों देखी भगवान् की लीला का कीर्तन किया है । इससे वह भी प्रमाणभूत माना गया है और द्वितीय वैदान्त रूप हैं । प्रायः अनपढ ऐसे इन भक्तों के गाये हुए इन कीर्तनों में शास्त्रो के सिद्धान्त भी स्पष्ट दिखाई देते हैं । श्रीगुसांईजी की उदारता, दीनता, विद्वत्ता, सेवासन्निष्ठता, भगवद्रूपता आदि को प्रकट करनेवाले अनेक प्रसंग सम्प्रदाय में सुप्रसिद्ध हैं ।

श्रीविट्ठलनाथजी की प्रथम पत्नी से ६ और द्वितीय पत्नी से १ ऐसे ७ पुत्र थे और ४ पुत्रियाँ थी । पुत्र भी समर्थ विद्वान्, सेवासन्निष्ठ तथा उदार चरित हुए । चौथे पुत्र श्रीगोकुलनाथजी प्रौढप्रतापी थे । बादशाह जहाँगीर के समय में माला-तिलक की रक्षा की । वैष्णवों के प्रसंग प्रकट किये । श्रीगोकुलनाथजी के वैष्णवों में अन्य से भिन्न प्रणालिकाएँ प्रसिद्ध हैं । श्रीवल्लभाचार्यजी ने एकांतवास, त्याग, सूक्ष्मसेवा, प्रवास और शास्त्रसेवन मुख्यतया प्रकट किये; श्रीगुसांईजी ने सर्व सहवास सर्वसमृद्धि का प्रभु के लिए विनियोग, प्रवास और शास्त्र-सेवन का समाचरण किया । श्रीवल्लभाचार्यजी ने सम्प्रदाय का प्रकाश

किया, जब श्रीगुसांईजी ने प्रचार किया; अपने नेत्र रूप–ज्ञानांग श्रीचाचाहरिवंशजी द्वारा पद्धति–पूर्वक प्रचार का पथ शुरू किया ।

श्रीवल्लभाचार्यजी ने तथा गुसांईजी ने अपने वैष्णवों को सेवा के लिए स्वरूप सेव्य के तौर पर दिए हैं वे “वे निधि स्वरूप” कहलाते हैं । है तो पुष्टि में सर्वत्र सेव्य– “व्रजाधिप” ही ! श्रीगुसांईजी ने अपने सात पुत्रों को सात भगवत्स्वरूप सेवार्थ दिये थे । उन्होंने अपने–अपने सानुकूल स्थानों में उन्हें स्थापित करके सेवा शुरू की । ये मूल “**सात घर**” हैं । यहाँ पूरी तालिका दी गयी हैं ।

अभी श्रीनाथद्वारा में गो. तिलकायत श्री १०८ गोविंदलालजी थे । अभी गो. तिलकायत १०८ श्री राकेशकुमारजी (श्रीदाऊजी) विराजते हैं ।

निकुंजनायक–मुख्य **श्रीगोवर्धननाथजी** :– राजस्थान के उदयपुर के पास श्रीनाथद्वारा में विराजमान हैं । साथ ही मक्खनचोर श्रीनवनीतप्रियजी भी विराजते हैं । ये सब स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण के ही हैं, ११ वर्ष तक की आयु की लीला के हैं । अलग अलग लीलाकी मुख्यता के कारण अलग अलग नाम हैं । सब स्वरूपो मे सभी लीलाएँ वर्तमान हैं, परंतु उनमें एक मुख्य– प्रकट होती हैं; बाकी की गुप्त होती हैं । किसी के पुत्र का, किसी के पिता का, किसी के पति का, किसी के भाई का, किसी के चाचा का, किसी के मामा का, किसी के शेठ या साहब का व्यवहार रखनेवाला व्यक्ति एक ही है, परंतु व्यवहार

क्रम (१)	नाम (२)	जन्मदिन (३)	भगवत्सवरूप (४)	स्वरूपलीला भावना (५)	वर्तमान स्थान (६)	वर्तमान आचार्य (७)
१.	श्रीगिरिधरजी	वि. सं. –१५९७ कार्तिक सुद १२	श्रीमथुरानाथजी	गोचारण	जतीपुरा	गो. श्रीलालमणिजी
२.	श्रीगोविन्दरायजी	वि. सं.–१५९९ कार्तिक वद ८	श्रीविट्ठलनाथजी	रासमें तिरोधाम (चीरहरण)	श्रीनाथद्वारा	गो. श्रीकल्याणरायजी
३.	श्रीबालकृष्णजी	वि. सं.–१६०८ भाद्र पद वद १३	श्रीद्वारकानाथजी	वेणुकूजन आँखमी चौली	कांकरोली	गो. श्रीव्रजेशकुमारजी
४.	श्रीगोकुलनाथजी	वि. सं.–१६०८ मार्गशीर्ष सुद ७	श्रीगोकुलनाथजी	श्रीगिरिराजधरण	गोकुल	गो. श्रीसुरेशबावाजी
५.	श्रीरघुनाथजी	वि. सं.–१६११ कार्तिक सुद १२	श्रीगोकुलचन्द्रमाजी	महारास	कामवन	गो. श्रीगिरिधरलालजी
६.	श्रीयदुनाथजी	वि. सं. १६१३ चैत्र सुद ६	श्रीबालकृष्णजी श्रीकल्याणरायजी श्रीमुकुन्दरायजी	पूतना मारण देवीमेंसे भगवद्रूप –	सूरत बडौदा काशी (तीनों के दावे हैं)	गो. श्री व्रजरत्नलालजी गो. श्री द्वारकेशलालजी गो. श्री श्याममनोहरजी
७.	श्रीघनश्यामजी	वि. सं. १६२८ कार्तिक वद १२	श्रीमदनमोहनजी	लघुरास	कामवन	गो. श्रीघनश्यामलालजी

सब अलग अलग होता है । उसी तरह भगवान् कृष्ण एक और लीलाएँ अलग अलग है इसलिए नाम अलग अलग हैं ।

भारत वर्ष में अनेक स्थानों में गो. बालक के घर उक्त "निधि-स्वरूपों" के मंदिर हैं । वैष्णवों के वंशजों से सेवा न बनने से मूल-सेव्य-स्वरूप वल्लभ वंशजो के पास लौट जाते हैं । वे मंदिरों में बिराजते हैं और पुष्टिमार्ग के अनुसार वहाँ उनकी सेवा होती है । यह सेवा रीति उत्कृष्ट होने से पुष्टि की छाया बहुतसे मंदिरों में दिखाई देती हैं । श्रीवल्लभाचार्यजी के वंशज "आचार्य" माने जाते हैं और "महाराज" कहलाते हैं । वे "नाम-संबंध" और "आत्मनिवेदन" की दीक्षा दे सकते हैं । वे अपने सेवकों को भगवत्स्वरूप 'सेव्य' कर देते हैं । वैष्णव सेवक अपनी पसंद का स्वरूप या चित्र (बाजार से) लाते हैं और सेवा के लिए स्थापित कर देने की अपने गुरुदेव से विनंती करते हैं । स्वयं कर सके एसा प्रकार रख देने की विनंती करते हैं । गुरुदेव वैष्णव के लाये हुए स्वरूप में भगवान् की भावना कर देते हैं । प्राचीन परम्परा के अनुसार अपने भाव से उसमें भगवान् की लीला सहित भावना करते हैं । स्वयं पहले सेवा करके फिर (वैष्णव को पधरा देते हैं) वैष्णव के यहाँ प्रस्थापित करते हैं । इसको स्वरूप "सेव्य" वा "पुष्टि" कराना कहा जाता हैं । सुयोग्य गुरु न मिलने पर स्वयं मूर्ति पधराके भी सेवा करनेकी आज्ञा श्रीमहाप्रभुजीकी हैं । रूपसेवा में त्याग-विनियोग-घर-धनकी यथाधिकार कहा है : नहीं

तो निर्हेतुक श्रीभागवत सेवन ! आचार्यश्री के वंशजो में आचार्यजी की ही भावना की जाती हैं ।

श्रीगुसांईजी ने अपने एक नजदीक के सेवक के पुत्र को अपने ही पुत्र की तरह पालपोस कर बड़ा किया । बड़ा होने पर उसको आदर दिया और सिंध प्रदेश में प्रचारार्थ भेजा । वे "आठवे लालजी (पुत्र)" के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं........उनके भी वंशज हैं । यह उनकी वत्सलता-उदारता का उदाहरण हैं ।

श्रीवल्लभाचार्यजी के वंश में अनेक तेजस्वी विद्वान हुए है, अनेक सेवा परायण महापुरुष भी हुए हैं और उनमें स्वरूप और शास्त्र का सेवन परम्परागत स्वाभाविक हैं । श्रीहरिरायजीने सेंकडों छोटेछोटे ग्रंथो द्वारा सम्प्रदाय को स्पष्ट किया है । उनका "शिक्षा-पत्र" तो वैष्णव-जीवन-गठन का स्पष्ट मार्गदर्शक हैं । उनके समय में श्रीपुरुणोत्तमजी हुए; वे दशदिगंतविजयी कहलाते थे । उन्होंने ९ लाख श्लोक जितने साहित्य की रचना की हैं । सम्प्रदाय के सिद्धान्तो के सानुकूल शास्त्रीय, प्रबल और समर्थक प्रमाण उन्होंने प्रसिद्ध किये हैं । अन्य अनेक धुरन्धर विद्वान् आचार्य भी हुए हैं और वर्तमान समय में भी विराजते हैं । दुनिया के इतिहास में श्रीवल्लभ- वंश ही है जिसने सतत साहित्य प्रदान किया हैं । भारतमार्तंड पंडित गट्टुलालजी, श्रीलालुभट्टजी, श्रीजयगोपालभट्टजी, श्री- निर्भयरामजी, श्रीइच्छाराम भट्टजी, श्रीहरिकृष्ण पहाड़ आदि प्रकांड पंडित भी इस सम्प्रदाय में हुए हैं और आज भी प्रकांड पंडित

विराजते हैं। महानुभावी वैष्णव भी सेवापरायण हो कर विराजते हैं।

वेद-विचार :

श्रीमहाप्रभुजी श्रीवल्लभाचार्यजीने आरंभ में **"ब्रह्मवाद"** नाम से अपना सिद्धान्त प्रकट किया जो बाद में **"शुद्धाद्वैत'** नाम से प्रसिद्ध हुआ हैं। **"साकार ब्रह्मवाद"** भी कहा जाता है। ब्रह्मवाद में वेद में कहा गया है वैसा ही ब्रह्म का स्वरूप माना गया है। वेद में दो मुख्य विभाग हैं उन्हें "कांड" कहते हैं। उसके "पूर्वकांड" में यज्ञादि कर्म की मुख्यता हैं, और "उत्तरकांड" में ब्रह्म के ज्ञान की मुख्यता है।

श्रीवल्लभाचार्यजीके मत के अनुसार पूर्वकांड में यज्ञ के रूप में भगवान् है और उत्तरकांड में ब्रह्म-स्वरूप भगवान् है। सामान्यतः सब विचारको ने दो में से एक कांड पर विचार किया है और तदनुसार पूर्वकांड का विचार करनेवाले "जैमिनीसूत्र" या "पूर्वमीमांसा" हैं। उन पर कुछ विचारको ने स्वतंत्र विचार किया। उत्तरकांड के संदेह को दूर करनेवाले "व्यास-सूत्र" "ब्रह्मसूत्र" के नाम से विख्यात हैं। उसको "तत्त्वसूत्र" भी कहते हैं। कुछ विचारकोंने उन पर भी स्वतंत्र विचार किया। इस तरह दोनों शाखाएँ भिन्न मानी गयी, परंतु जैमिनीजी महर्षि व्यास के शिष्य थे, ब्रह्मसूत्र में उनके नाम का उल्लेख भी हैं। जैमिनी मात्र कर्मवादी नहीं हैं। दोनों कांडो का समन्वय करने के लिए दोनों मीमांसा पर विचार करना जरूरी है और तभी ब्रह्म का स्वरूप समझ में आये, वेद का तात्पर्य समझ में आये। श्रीवल्लभाचार्यजीने व्याससूत्रो के अविरोधी जैमिनीसूत्रों का प्रामाण्य माना। दोनों मीमांसा पर उन्होंने भाष्य लिखा है।

कर्म-विचार :

श्रीवल्लभाचार्यजी के मतानुसार पूर्वकांड में यज्ञ रूप भगवान् है। **"यज्ञो वै विष्णुः"** इस श्रुति में स्पष्ट हैं। परब्रह्म रूप भगवान् यज्ञ रूप में पाँच प्रकार से प्रसिद्ध है :

> **"अग्निहोत्रं तथा दर्शपूर्णमासः पशुस्तथा।**
> **चातुर्मास्यानि सोमश्च क्रमात् पञ्चविधो हरिः॥"**

१. अग्निहोत्र, २. दर्शपूर्णमास, ३. पशु, ४. चातुर्मास्य, ५. सोम, क्रमशः ये पाँच स्वरूप यज्ञात्मक परब्रह्म के हैं। वेद में वर्णित पुरुष-परब्रह्म-के ये अंग हैं। पहले दो भगवान् के दो हाथ हैं, दूसरे दो भगवान् के दो पग हैं, सोम बीच का हिस्सा है और "ज्ञान रूप" मस्तक हैं। यह उत्तरकांड में हैं। यज्ञ के समस्त साधन भी यज्ञरूप भगवान् के अंगरूप हैं। भागवत में यज्ञात्मक श्रीवराहनारायण के स्वरूप-निरूपण में यह स्पष्ट दिखाई देता हैं। यज्ञ के प्राकृत और वैकृत दो स्वरूप है। वे काम्य और नित्य रूप से भी पहचाने जाते हैं। नित्य करने के कर्म नित्य कहलाते हैं, फल पाने की इच्छा से किये जानेवाले कर्म काम्य हैं। सभी कर्मो के फल भगवान्

देते हैं । देश, काल, द्रव्य, कर्ता, मंत्र और कर्म, इन छहों की शुद्धि से धर्म संपादित होता हैं । भगवान् अधिकार के अनुसार फल देते है । उत्तम अधिकारी को आधिदैविक यज्ञ के रूप में मुक्ति देते है ; मध्यम अधिकारी को आध्यात्मिक यज्ञ के रूप मे आत्मसुख देते है ; सामान्य अधिकारी को आधिभौतिक यज्ञ के रूप में स्वर्गादि देते है । कर्म द्वारा भी मुक्तिलाभ श्रीवल्लभाचार्यजी को सम्मत है ।

वेदार्थ-रीत :

वेद-वाक्यों के अर्थ करने में श्रीआचार्य जी की परिपाटी स्पष्ट है :-

“ये धातुशब्दा यत्रार्थे उपदेशे प्रकीर्तिताः।
तथैवार्थो वेदराशेः कर्तव्यो नान्यथा क्वचित्॥”

धातुपाठ में पाणिनी ने जिस-अर्थ में धातु शब्द दिये हैं उसीके अनुसार संपूर्ण वेद का अर्थ करना चाहिए, अन्यथा कहीं भी नहीं ।

ब्रह्म-विचार :

ब्रह्म-स्वरूप विचार के लिए भी “अणुभाष्य” में स्पष्ट लिखते हैं : “**ब्रह्म पुनर्यादृशं वेदान्तेष्ववगतं तादृशमेव मन्तव्यम् । अणुमात्रान्यथाकल्पनेऽपि दोषः स्यात्॥**” “फिर वेदान्त में जैसा ब्रह्म वर्णित हो वैसा ही मानना चाहिए । अणुमात्र भी अन्यथा कल्पना करने में दोष है ।” इस तरह श्रीवल्लभाचार्यजी वेद के अक्षर अक्षर का आदर करते हैं । अपनी ओर से कल्पना की कोई भी बात जोड़े बिना, वेद में जैसा कहा गया है

वैसा ही स्वीकारते हैं । अर्थवाद भी स्वअर्थ में प्रमाण-रूप ही है । वेदका हर शब्द-प्रमाणरूप है । ब्रह्मवाद में मुख्य प्रमाण “शब्द” है ; वेद अलौकिक शब्द- प्रमाणरूप है । उसके अनुकूल अन्य सब प्रमाण स्वीकार्य हैं ।

समन्वय :

निष्कामता से यज्ञादि करनेवाले में अगर ज्ञान न हो तो दूसरे जन्म में उसे ज्ञान-प्राप्ति की योग्यता मिलती है और ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके ब्रह्म-प्राप्ति कर सकता है । इस तरह पूर्वकांड और उत्तरकांड का संबंध है । सभी आचार्य वेद, गीता और ब्रह्मसूत्रों की एक-वाक्यता से अपना मत सिद्ध करते हैं । श्रीवल्लभाचार्यजी श्रीभागवत को भी उनमें एक गिनते हैं । वेद के पूर्वकांड में क्रिया शक्ति-सहित यज्ञात्मक ब्रह्म है, उत्तरकांड में ज्ञानशक्ति-युक्त ब्रह्म स्वरूप है, और श्रीमद्-भागवत में क्रिया और ज्ञान दोनों शक्तियों से परिपूर्ण परब्रह्म श्रीकृष्ण हैं । इसलिए सबका समन्वय श्रीमद्-भागवत में स्वाभाविक हुआ हैं । अपने ब्रह्मवाद में श्रीआचार्यजी ने प्रमाणों की स्पष्ट गणना कर दी है ।

प्रमाण-गणना :

“वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्॥”

“संपूर्ण वेद, गीता के श्रीकृष्ण के वाक्य, व्याससूत्र और उनके साथ सम्मत हों ऐसे जैमिनिसूत्र,

समाधिभाषा से अविरोध ऐसी परमत और लौकिक–भाषा–सहित व्यास की समाधि भाषा रूप श्रीमद्–भागवत–ये चार प्रमाण हैं। इनमें क्रम से पहले बताये गये प्रमाण में संदेह पैदा हो तो बाद के बताये गये प्रमाण से समाधान हो जाता है। इस तरह श्रीमद्भागवत सब संदेहों का निराकरण करनेवाला परम प्रमाण है। सामान्य ज्ञान–दशा में ये चार प्रमाण हैं और इनके विरुद्ध न हो वह प्रमाण है, परन्तु पूर्णज्ञान–दशा में तो सब कुछ भगवान् की नाम–लीलारूप होने से, विरोध न रहे उस रीति से अर्थ करने से, प्रमाणरूप ही है।”

ब्रह्मवाद का स्वरूप :

इन प्रमाणों से श्रीवल्लभाचार्यजी अपने ब्रह्मवाद का स्वरूप इस तरह स्पष्ट करते हैं :

“आत्मैव तदिदं सर्व सृज्यते सृजति प्रभुः।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः॥
आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा।
इति श्रुत्यर्थमादाय साध्यं सर्वैर्यथामति॥
अयमेव ब्रह्मवादः स्यात् शिष्टं मोहाय कल्पितम्॥”

“यह सब प्रत्यक्ष और परोक्ष विश्व आत्मारूप ही है। उसका सर्जन होता है। भगवान् उसका सर्जन करते हैं। उसकी रक्षा होती है। विश्वरूप भगवान् रक्षा करते हैं। उसका हरण होता है। वह ईश्वर हरते हैं। ‘यह प्रत्यक्ष और परोक्ष सर्व आत्मा और यह, वह, सब, ब्रह्म ही है’ ऐसा श्रुति का अर्थ लेकर हमको यथामति साध्य करना चाहिए। यही ब्रह्मवाद है।

बाकी का सब कुछ मोह होने के लिए है।” भागवत के ग्यारहवें स्कंध में भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवजी को ज्ञान दिया, उसे “ब्रह्मवाद” नाम दिया है।

शुद्धाद्वैत–शब्द :

दशमस्कंध की “सुबोधिनी” में एक जगह श्रीआचार्यजी ने “शुद्धाद्वैत” शब्द का उपयोग किया है। “ब्रह्मवाद” के लिए ही “शुद्धाद्वैत” नाम बाद में प्रसिद्ध हुआ। काशी के गो. श्री गिरिधरजी महाराज ने “शुद्धाद्वैतमार्तण्ड” ग्रंथ लिखा है। उससे पहले गो. श्रीहरिरायजी ने भी “शुद्धाद्वैत” शब्द का प्रयोग किया है।

शुद्धाद्वैत का अर्थ :

“शुद्धाद्वैत” शब्दमें षष्ठी तत्पुरुष अथवा कर्मधारय समास है। नाम–रूप, ब्रह्म–जीव और कार्य–कारण का अभेद ही ‘अद्वैत’ हे और “शुद्ध” शब्द माया सम्बन्धरहित स्थिति का सूचन करता है। “वेद–गीता–ब्रह्मसूत्र–भागवतमें जैसा अद्वैत” है, वैसा ही, कोई भी शब्दार्थाशयमें तनीक भी, परिवर्तनके बिना यथार्थ है, वह “शुद्ध” है। वह है,– “शुद्धाद्वैत !” माया भगवान् की शक्ति है। इसलिए वह भगवान् से भिन्न नहीं है। मायिक ब्रह्म कार्य–कारणरूप नहीं हे, परंतु माया सम्बन्ध– रहित शुद्ध ब्रह्म ही कारणरूप और कार्य रूप है। कार्य और कारण दोनों ब्रह्मरूप हैं अतः दोनों में अद्वैत है। यह “शुद्धाद्वैत” है।

अलग अलग नाम :

सुवर्ण में से गहने बनते हैं, उसी तरह ब्रह्म खुद विकृत हुए बिना विश्वरूप में रूपान्तरित होता है । उपादान सम- सत्ताक-कार्यापत्ति परिणाम है । अतः यह मत "**अविकृत- परिणामवाद**" भी कहलाता है । ब्रह्म में से विश्व में से विश्व के प्रकट होने में या परिणमित होने में एक मात्र ब्रह्म ही उपादान-कारण है और निमित्त कारण भी ब्रह्म ही है । दोनों कारण अभिन्न रूप में ब्रह्म ही हैं । इसलिए यह मत "**अभिन्न निमित्तोपादानकारणवाद**" भी कहलाता है । घड़े में मिट्टी उपादान-कारण है, चाक-दंड आदि निमित्त-कारण हैं । वे जैसे अलग अलग दिखाई देते हैं उसी तरह जगत् के बनने के दो कारण अलग अलग नहीं हैं ; एक ही हैं । सद्रूप ब्रह्म विश्व प्रकट होता है । इसलिए "**सत्कारणवाद**" कहलाता है, "**सत्कार्यवाद**" भी कहलाता हैं । ब्रह्म कारण है और विश्व कार्य है । भगवान् ने अपनी इच्छा से लीला के हेतु भिन्नता प्रकट की है इसलिए "**ऐच्छिक द्वैतवाद**" भी कहलाता है ।

जगत् :

श्रीवल्लभाचार्यजी के मतसे जगत् सत्य है, मिथ्या नहीं । ब्रह्म के नाम और रूपका यह दिखनेवाला और सुनाई देनेवाला विस्तार (प्रपंच) जगत् है । सबसे पहले वह अव्यक्त था और भगवान् की इच्छा से व्यक्त हुआ । ब्रह्म स्वयं अपनी इच्छा से विश्व रूप में (प्रकटित) परिणमित हुए । ब्रह्म में से जगत् उत्पन्न होता है, उसी में स्थिति करता है और उसी में लय होता है । मकड़ी अपने जाले से अपना जाल बुनती है और फिर स्वयं उसे निगल जाती है, उसी तरह ब्रह्म जगत् का आविर्भाव तिरोभाव करते है । वर्तमान वस्तु की अनुभव योग्यता आविर्भाव है और अनुभव की अयोग्यता तिरोभाव है । ब्रह्म सत्य है, इसलिए उसका परिणाम कार्य रूप जगत् भी अनन्य होने से सत्य ही है । पुराणों में तो वैराग्य उत्पन्न करने के हेतु कभी-कभी जगत् को मायिक भी कहते हैं । वेदो में ऐसा मायिक नहीं कहा है ।

जगत् और संसार :

इस जगत् की वस्तु या व्यक्ति में जीव में मैं-मेरे का भाव होता है । जगत् भगवान् का कार्य है अतः सत्य है । उसमें जीव ने अविद्या के कारण 'मैं और मेरा' की कल्पना की है । यह कल्पना ही संसार है और यह संसार मिथ्या है । इस जगत् और संसार के भेद को श्रीवल्लभाचार्यजी ही पहले पहल स्पष्ट करते हैं । अहंता और ममता से आसक्ति होती है और वही बंधन में डालती है । अहंता-ममता से हुई आसक्ति के बंधन में से छूटने पर जीव संसार के बंधन से मुक्त होता है । बंधन में डालनेवाली अविद्या पाँच पर्व-विभाग-वाली है; देहाध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास, अंतःकरणाध्यास और स्वरूप विस्मृति । ये पाँच अविद्या के पर्व हैं । उसमें से छुडानेवाली विद्या

है । विद्या भी पाँच पर्व हैं – वैराग्य, सांख्य, योग, तप और भक्ति । अगर पाँचो न बनें तो एक द्वारा भी दृढभाव से प्रभु को भजनेवाला बंधन से मुक्त होता है । जीव संसार-बंधन से मुक्त बने तब भी जगत् तो यथावत् ही रहता है, उसका नाश नहीं होता । संसार के बंधन से मुक्त, ब्रह्मभाव से युक्त और अध्यास से रहित जीव **“जीवन्मुक्त”** कहलाता है । और जन्म-मरण या शरीर के बन्धन से मुक्त ब्रह्म में लीन जीव **“मुक्त-जीव”** कहलाता है ।

जीव :

व्यवहार की दशा में जड, जीव और अंतर्यामी ऐसे तीन भेद दिखाई देते हैं । भगवान्ने स्वशक्ति रूप माया में से विद्या और अविद्या प्रकट की है । अविद्या से बंधन और विद्या से मुक्ति मिलती है । ये दोनों जीव के लिए हैं । ब्रह्मके चिदंश में से-अग्नि में से चिनगारी की तरह-जीव भगवदिच्छा से प्रकट होता है । **“ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।”** गीताजी में भगवानने स्पष्टरूप से कहा है कि मेरा ही सनातन अंश जीवलोक में जीवरूप हुआ है । जीव ब्रह्म का अंश ही है । स्वल्प सामर्थ्यवाला है । सोने से उसका एक टुकडा अलग हो वह सोने का अंश ही कहलाता है । जीव में से आनंद, ऐश्वर्य, वीर्य, यशः, श्री, ज्ञान, वैराग्य आदि ब्रह्म की इच्छा से अनुभव देते बंद-तिरोहित-हुए हैं । इसलिए जीव को बंधन, विमुखता आदि अनेक दोष प्राप्त होते हैं । आनंद के

अंश का अविर्भाव होते ही अणुमात्र जीव में करोडों ब्रह्मांडो की प्रतीति होती हैं । सब के शरीर में रहा हुआ जीव बाल के आडे छेद के दश-हजारवें हिस्से के बराबर है । हरएक के हृदय में एक जीव और एक अंतर्यामी साथ-साथ बसे हुए हैं । हृदय में रहे हुए एक अणुमात्र जीव का चैतन्य प्रसरणशील है । जिस तरह बिजली का जलता हुआ लट्टू कमरे में किसी एक ही जगह होने पर भी उसका प्रकाश सब जगह फैलता है, उसी तरह जीव हृदय में रहने पर भी सारे शरीर में चैतन्य का अनुभव होता है । ब्रह्म का अंश होने के कारण जीव ज्ञाता और कर्ता है, और नित्य है । भगवान् की इच्छा हो तब तक ये जीव अनेक रूपों में रहते हैं और भगवान् की इच्छा हो तब एक रूप बनते हैं । ब्रह्म की लीला करने की इच्छा से प्रकटित जीव दो प्रकार के होते है,- दैवी और आसुरी । ब्रह्म स्वय तद्रूप हुआ है, इसलिए यह आत्मसृष्टि है । लीला के हेतु अनेकों रूप में होने से लीला ही है । ब्रह्म अपनी इच्छा से जीवों को कर्मानुसार फल देते हैं, इसलिए ब्रह्म का, किसी को सुखदुःखादि देने का पक्षपात या क्रूरता का दोष नहीं लगता है । इस तरह ब्रह्म वैषम्य-नैर्घृण्य- दोष से मुक्त हैं । कर्मानुकूल फल दे तब मर्यादा है, स्वतंत्र फल दे या अपनी प्राप्ति अपने (स्वरूप) बल से करावे तब पुष्टि है ।

अखंडाद्वैत :

ब्रह्म सच्चिदानंद रूप है, अनेक रूप भी है ।

अनेक रूप होकर लीला करने की ब्रह्म को इच्छा हुई। अपने चित् और आनंद-अंश को तिरोहित किया। सद्-अंश में से जड़रूप प्रकट किये। जीव में सत् और चित् दोनों आविर्भूत हैं और आनंद-अंश में से अंतर्यामी अनेक रूपों में प्रकट हुए हैं। जड़ में चित् और आनंद का आविर्भाव होने पर वह सच्चिदानंद-ब्रह्म-रूप बनता है। सोने में से विविध नाम और आकार के गहने बनने पर भी सोने में और उनमें कोई भेद नहीं है, सब सोना ही है। उसी तरह जड, जीव और ब्रह्म,- तीनों में कोई भेद नहीं है, अखंड अद्वैत ही है।

अक्षर-ब्रह्म :

सच्चिदानंद-रूप ब्रह्म पूर्णानन्द है। वह आनंद अमाप है- गिना नहीं जा सकता, अतुल्य है। ब्रह्म अपने में से आनंद के अंश को अल्पांश में तिरोहित जैसा करता है, तब वह नापा-गिना-जाय ऐसा बनता है। यह गणित-आनंदवाला ब्रह्म स्वरूप ही “अक्षरब्रह्म” है। प्रकृति-पुरुष तथा काल, कर्म, स्वभाव, उसके रूपान्तर हैं। ब्रह्म का यह आनंद तैत्तिरीयोंपनिषद में बताया गया है। यह अक्षरब्रह्म “कूटस्थ” भी कहलाता है। अक्षरब्रह्म में से सब की उत्पत्ति है। यह अक्षरब्रह्म ज्ञानियों के लिये ज्योतिर्मय है और भक्तों के लिए भगवान् के धाम वैकुंठादि-रूप है। अक्षर-ब्रह्म परब्रह्म के आसन, पुच्छ, चरणरूप भी हैं। जब वे भगवान् के चरणरूप हों तब वे पूर्णानन्द

ही है। मुक्त हुए जीव को सामान्यतः अक्षर- ब्रह्म के गणितानन्द-ब्रह्मानन्दका अनुभव होता है।

परब्रह्म :

परब्रह्म अगणितानन्द है, पूर्णानन्द हैं। वह पुरुषोत्तम के नाम से लोक और वेद में प्रसिद्ध है। वह क्षर और अक्षर से उत्तम है। वही श्रीकृष्ण है, आनंद-मात्रकरपादमुखोदरादि वाला है। “सिद्धान्त-मुक्तावली” में श्रीवल्लभाचार्यजी ब्रह्म के तीन स्वरूप बताते हैं। आधिदैविक स्वरूप-परब्रह्म पूर्णानन्द श्रीकृष्ण हैं, आध्यात्मिक स्वरूप-अक्षर ब्रह्म है, आधिभौतिक स्वरूप-जगत् है।

ब्रह्म सच्चिदानन्दरूप, सर्वव्यापक, अव्यय, सर्वसमर्थ, सर्वशक्तियों से युक्त, स्वतंत्र, सर्वज्ञ, प्राकृत गुणों से रहित, सजातीय-विजातीय-स्वगत-आदि भेद-रहित, अनेक गुणोंवाला, सर्व आधाररूप, सर्व को वश में रखनेवाला, माया को वश में रखनेवाला, आनन्द रूप आकारवाला, जगत् के सर्व पदार्थो से अलग् जगत् के समवायी और निमित्तकारण रूप, सर्वकर्ता, क्वचित् स्वरूप में और क्वचित् विश्व में विहार करनेवाला, सर्वरूप, सर्व में व्याप्त, फिर भी सर्व न जान सके ऐसा, सर्व वादों से परे, फिर भी वादों के अनुकूल होनेवाला, विरुद्ध धर्मो के आश्रय रूप, अनन्त स्वरूपोंवाला, लौकिक-युक्तियों से समझ में न आनेवाला, आविर्भाव- तिरोभावरूप अपनी शक्ति से अनेक रूपों से मोह करानेवाला,

इन्द्रिय-सामर्थ्य से न समझा जानेवाला, अपनी इच्छा से इन्द्रियगोचर होनेवाला-दर्शन देनेवाला, आनंद-रूप में जब शुद्ध सत्त्व का प्रतिफलन हो तब आविर्भाव होने से मरकतमणि जैसे श्याम स्वरूप में (श्रीकृष्ण रूप में) प्रकट होनेवाला है।

माया :

ब्रह्म सर्वत्र व्यापक-बिराजित होने पर भी अपनी योग- माया रूप शक्ति से ढँका हुआ होनेसे सर्व के लिए प्रकट नहीं है, अपनी इच्छा के आवरण में होने से अनुभव नहीं देता। भगवान् की इच्छा के अनुसार लीला के लिए उपयोगी सब तैयारी करनेवाली शक्ति योगमाया है। भगवान् की अनन्त शक्तियाँ हैं। उनमें से जिसे भगवान् ने अपने अनुकूल होने की आज्ञा दी है, वह माया है। अक्रूरजी ने स्वयं उसे भगवान् की सेवा करते हुए साक्षात् देखा है। भगवान् का सर्व-भवन-सामर्थ्य माया है। वह भगवान् के वश है, भगवान् उसके वश नहीं हैं। सच्चिदानन्द ब्रह्म के तीनों अंशो की भिन्न-भिन्न शक्तियाँ माया हैं। शक्ति और शक्तिमान् का भेद नहीं है,- अभेद है। अतः द्वैत का संभव नहीं है। इच्छा, शक्ति, माया स्वरूपभूत है। इनमें सद्-अंश की क्रियारूपा, चिद्-अंश की ज्ञानरूपा या व्यामोहिका और आनंद-अंश की स्वरूप बलरूपा या जगत्कारणभूता शक्तियाँ हैं। उनमें से व्यामोहिका (शक्ति) माया जीव को मोहित करके बुद्धि आदि को भी मोह करानेवाली है। उससे व्यामोहित होनेवाली

बुद्धि पदार्थो को असली रूप में न देखकर अलग मानती है। यद्यपि पदार्थो का रूप नहीं बदलता। यह माया दो प्रकार से भ्रम उत्पन्न करतीहै : (१) जो है उसका प्रकाश नहीं करती, (२) देशकालादि के व्यत्यास से जो नहीं दे उसका प्रकाश करती है। माया विषयता उत्पन्न करती है। विषयजनित ज्ञान प्रमाण हे, जब विषयताजनित ज्ञान भ्रान्ति है। यह विषयता दो प्रकार की है : (१) आच्छादिका, (२) अन्यथा- प्रतीतिहेतुरूपा । विषय भगवान् है; और माया में ही विषयता रूप भगवान् का रूप प्रकट होता है ; वह निःस्वभाव नहीं है। माया भी आत्मशक्ति है। इसलिए निःस्वभाव रूप नहीं है। ब्रह्मभाव पैदा न हो तब तक ही यह माया मोह करती हैं, भगवान् के दृष्टिपथ में तो माया टिक ही नहीं सकती।

माया से पार उतरने का उपाय :

"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।" जो मेरा ही आश्रय करता है, वह इस माया को पार कर जाता है। भगवान् ने गीताजी में माया को पार करने का उपाय बताया है। उसमें स्पष्ट शब्द हैं **"मामेव"** यह सूचक हैं। भगवान् श्रीकृष्ण की शरण के सिवाय, अन्य किसी भी उपाय से, माया को पार नहीं कर सकते। भगवान् की माया ज्ञानियों को भी मोहित करती है। भागवतजी में भी कहा- **"नारायणपरो.. माया मञ्त्रस्तरति दुस्तराम्"** यानि " जो नारायण परायण है वह सरलता से माया को पार करता है।"

माया को पार करना कठिन है, दुस्तर है केवल भगवान् श्रीकृष्ण की शरणागति से ही माया पार की जा सकती है । "**उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि ।** श्रीभागवत में उद्धवजीने कहा है,– उचिष्ट (प्रसादी) से जीवन व्यवहार चलाने वाले हम दास तुम्हारी मायाको जिततें हैं। ऐसे,– १. भगवान के पास में होने के माया पास में आ–रह–सकती नहि है । २. कृष्ण–शरणसे माया तैरते हैं । ३. प्रसादी से जीवन निर्वाह से, असमर्पित–त्यागसे, मायाको जितते हैं ।

श्रीवल्लभाचार्यजी ने सबके कल्याण के लिए भगवान् श्रीकृष्ण की शरणागति युक्त भक्तिमार्ग प्रकट किया है । सब वर्ण और आश्रमवालो के लिए यह सरल है । कोई भी प्राणी भगवान् श्रीकृष्ण की शरणागति से कृतार्थ होता है । किसी भी प्रकार के देश, ज्ञाति, वय, व्यवसाय, मति आदि के क्यों न हो, सब श्रीकृष्ण की शरण में जा सकता है । चाहे कैसा भी पापी या पुण्यशाली हो, वह श्रीकृष्ण की शरणागति से कृतार्थ बनता है ।

गीता में भी अर्जुन से कहा है– "**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**"– "सब धर्मो को छोड, केवल मेरी ही शरण में आ ।" यहाँ भी "**मामेकं**" शब्द स्पष्ट हैं ।

जीव के लिए मार्गदर्शन :

माया को पार करने के लिए श्रीकृष्ण की शरण में जाकर भक्तिपूर्वक जीवन बितानेवालों के लिए,

अनेक मार्गदर्शन श्रीवल्लभाचार्य जी ने अपने ग्रंथो में स्वकीयों को दिये हैं । वे सर्व को सुख–शान्ति देनेवाले हैं । आधुनिक समय में तन–मन–धन की स्वस्थता लोगों में नहीं है, तीनो का दुःख प्रायः सबको पीडन कर रहा है, तीनों का अनाचार प्रबल हो रहा है, तब श्रीभागवत–मार्ग ही स्वस्थता देनेवाला है । उससे ही किसी भी तरह पार उतरा जा सकता है और भगवद्धर्म–भागवतमार्ग में पतन की तो कोई गुंजाइश ही नहीं है ।

भगवान् श्रीकृष्ण को सर्वस्व मानकर उनकी ही शरणागति करनी चाहिए । श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन इन नव प्रकार से शास्त्रोक्त भक्ति करनी चाहिए । भक्ति भी भगवत्–कृपा से हो सकती है । भक्ति करने के हेतु मन से निःसंग होना, संसार–परायण लोगों का संग छोड़ना और भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेमपूर्वक सेवा करनी चाहिए । श्रीमद्भागवत का आदरपूर्वक नियमित पाठ करना चाहिए । कडुआ कहनेवाले या कठोर व्यवहार करनेवाले में भी हमारा भगवान् विराजमान है, ऐसा समझकर मनको नहीं बिगड़ने देना चाहिए । प्रभु में दृढ विश्वास रखना चाहिए । लौकिक इच्छाएँ और जरूरते कम करते रहना चाहिए । निकम्मी बातचीत, विचार और व्यवहार (क्रियाएँ) सर्वथा त्याग देना चाहिए । शक्ति के अनुसार स्वधर्म का पालन करना और जो न बन सके उसके लिये संताप करना

चाहिए । अपने धर्म से विरुद्ध जो हो उसका सम्पूर्ण त्याग करना चाहिए । इन्द्रियों का संयम करना चाहिए । इन्द्रियों के भोग संबंधी वात-विचार या प्रवृत्ति रस- पूर्वक न करके, स्वाभाविक हो वही होने देना चाहिए । प्रभुनाम स्मरण ऊँची आवाज से करना चाहिए । सब प्रकार के दुःख प्रसन्नतापूर्वक सह लेना चाहिए । एकमात्र श्रीकृष्ण का दृढ आश्रय करना चाहिए । एकादशी का उपवास करना चाहिए और भगवान् के उत्सव मनाने चाहिए । अपने धर्म के सिवाय, और किसी का कोई आग्रह नहीं रखना चाहिए । प्रभु प्रसन्न हो ऐसे मधुर, सरल (निष्कपट) कोमल सत्य वाणी- बरताव-विचार रखने चाहिए । सब लौकिक काम भी प्रभु के बताए हुए हैं, ऐसा समझकर, प्रभु की और वफ़ादार रहकर प्रभु प्रसन्न हों- ऐसे, करने चाहिए । प्रभु में दृढ विश्वास रखना चाहिए ।

स्वतन्त्र-भक्तिमार्ग अथवा पुष्टिमार्ग :

कलियुग में कोई भी साधन होना कठिन है । भक्ति करना भी सरल नहीं, केवल दीनतापूर्वक श्रीकष्ण की शरणागति ही कृतार्थ करती है । परम प्रेमपूर्वक श्रीकृष्ण की सेवा-कथा में जो रत रहे वह कृतार्थ हो, कलियुग में भी वह सफल हो । श्रीगोपीजन की रीति और प्रीति के अनुकूल अगर जीव बने तो प्रभु प्रसन्न होवे । सामान्य शरणागति की तुलना में निःसाधनात्मक शरणागति प्रभु को संतुष्ट करती है ।

शास्त्र में ऐसा साधन कहीं भी नहीं बताया है, अतः यह स्वतंत्र- भक्तिमार्ग भी कहलाता है । इसमें गुरु है- श्रीगोपीजन ! परम प्रेम हा इसमें साधन है । प्रेम का प्रदान भी प्रभु ही करते हैं । प्रभुके लिए ताप-क्लेश का यह मार्ग है । यह निर्गुण- पुष्टिमार्ग है । यहाँ भगवान् भी निःसाधन-फलात्मा है । अज्ञान से, ज्ञान से या प्रीति से श्रीकृष्ण की शरण में जानेवाले को कोई फिक्र करनी नहीं होती । श्रीगोपीजनवल्लभ भगवान् श्रीकृष्ण ही सर्वस्व है । वह शृंगार-रस का स्वरूप है । वही पुष्टिमार्ग में फल है । उसके सम्बन्ध से ही और सब फल कहलाता है । यहाँ तो श्रीकृष्ण ही सब कुछ है । उनके सुख के हेतु सर्वस्व के समर्पण-पूर्वक सर्वोत्कृष्ट स्नेह से सेवा ही मुख्य कर्तव्य है । श्रीकृष्ण के सिवाय अन्य किसी का सम्बन्ध भी प्रेम प्रगल्भता के कारण रुचिकारक नहीं लगता । श्रीभागवतजी में निर्गुण-भक्तियोग का लक्षण बताया है, उसमें श्रीवल्लभाचार्यजी की अनन्यता सुबोधिनीजी में सुस्पष्ट है ।

अनन्यता :

"लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुणोत्तमे ॥"

"हेतु-रहित और सतत-वहती हुइ, पुरुणोत्तम (भगवान् श्रीकृष्ण) की जो भक्ति है, वह निर्गुण भक्तियोग का लक्षण कहा गया है ।" पुरुणोत्तम की भक्ति ही श्रीवल्लभाचार्यजी को पसंद है, अन्य

अवतारों की भी नहीं । इस अनन्यता में प्रेम की पराकाष्टा है, दूसरे का तिरस्कार नहीं; यह तो प्रेम भरी पतिव्रता की पतिपरायणता है । ऐसे अनन्यतभक्त तो मुक्ति भी नहीं चाहते । वे तो मात्र श्रीकृष्ण की सेवा की झंखना ही किया करते है । वे अन्य का अनादर नहीं करते, परंतु प्रेम के कारण अन्य में अभिरुचि ही उत्पन्न नहीं होती है । पुष्टिमार्ग की अनन्यता प्रेम में से उत्पन्न हुई हैं, और यह हृदय–धर्म की स्वाभाविकता है । बुद्धि की इसमें कोई देन नहीं है । इसलिए पुष्टिमार्ग की अनन्यता तो स्नेह की स्वाभाविकता है, संकुचितता नहीं, अन्य की अवज्ञा नहीं । शास्त्र की इसमें सम्मति है । गीताजी में स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने बारबार अपनी अनन्य भक्ति करनेको कहा है । **“अनन्याश्चिन्तमयन्तौ”**, **“अनन्य–चेताः”**, **“भक्त्या त्वनन्यया”** । प्रभृति प्रसिद्ध हैं ।

पुष्टिमार्ग का अधिकार :

भगवान् श्रीकृष्ण से भी प्रेमपूर्ण भक्त तो कुछ नहीं चाहता है । सेवादि भी वह स्नेह की स्वाभाविकता से करता है । इस पुष्टिमार्ग में स्त्रीगूढ भाव (प्रियाभाव) की मुख्यता है । अपने प्रियजन से प्रियतमा को प्रेम के सिवा और क्या चाहिए ? और वह प्रकृष्ट प्रेम का प्रवाह प्रतिकूल परिस्थिति में भी कैसे रूक सकता है ? उसमें तो दास्य–वात्सल्य–सख्य और मधुर–भाव से श्रीगोपीजनवल्लभ भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा होती है । ग्यारह वर्ष की आयु तक की

लीलाएँ करते व्रजविहारी भगवान् श्रीकृष्ण ही सेवनीय है । कहलाते मंदिर में नंदालय के भाव से सेवा होती हैं । वैष्णव के यहाँ श्रीगोपीजन के भाव की भी सेवा संभवित है । उभयत्र–सर्वत्र–पुष्टि–मार्ग में तो “व्रजाधिप“ ही भगवत्स्वरूप में नहीं है । विषय और वासना का सम्पूर्ण त्याग करने के बाद ही पुष्टिमार्गीय सेवा या कथा में रसानुभव होता है । “निरोध–लक्षण” ग्रंथ में श्रीमहाप्रभुजी स्पष्ट आज्ञा करते हैं कि **“ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम् ।”** “समस्त (जगत्) भूलकर भगवान् श्रीकृष्ण में आसक्ति ही निरोध है ; जिसका श्रीकृष्ण में निरोध हुआ है वही यहाँ आनंद का अनुभव अहर्निश करता है ।” मूल–श्लोक में **‘एव’** है । बिना निरोध के, इधर उधर भटकते चित्तवाले को, भटकते इन्द्रियवाले को, यहाँ भगवद्रसानुभव का आनंद नहीं मिलता ।

अलग अलग नाम :

इस प्रेमपूर्ण भक्तिमार्ग के अनेक नाम हो सकते है । “निर्गुण–पुष्टि–भक्तिमार्ग”, “स्वतंत्र–भक्तिमार्ग”, “निःसाधनमार्ग”, “उष्णभाव–मार्ग”, “प्रमेय–मार्ग”, “अविहित–भक्ति–मार्ग” आदि ।

मार्ग का सामान्य स्वरूप :

इस मार्ग में भक्ति का दान भगवान् या (व्रज) भक्त या श्रीआचार्यजी करते हैं । भगवान् जिस जीव का “वरण” करते हैं उसे ही अपनी रसात्मक लीला का

अनुभव कराते हैं, भगवान् जब तक मिलते नहीं, तब तक उसका संताप क्लेशः आर्ति (आतुरता-दुःख) ही साधन रूप है। उससे दीनता पैदा होती है और दीनता से प्रभु प्रसन्न होते हैं , प्रकट होते हैं, प्राप्त होते है। भगवान् मिले वही संयोग है, इसके बाद विप्रयोग का अनुभव होता है। वही मुख्य फल हैं। संयोग में सेवा और विप्रयोग में कथा कर्तव्य है। इस मार्ग में सब कुछ प्रभु की कृपा पर ही अवलंबित है। अनुग्रह नियामक है और भक्त के लिए भाव नियामक है। भक्त के भाव के अनुसार सब कुछ होता है। यहाँ भगवान्, ब्रह्म-सम्बन्ध, सेवा, लीला- आदि सब भावात्मक हैं। सर्वात्मभाव के बाद ही पुष्टि में भगवत्प्राप्ति होती है। पुष्टि का सर्वात्मभाव शृंगाररस प्रगाढ है। उसका दान भी भगवान् करते हैं। शृंगाररस के संयोग और विप्रयोग दो विभाग हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण शृंगार-रसरूप हैं :

रुचि, श्रवणादि, प्रेम, आसक्ति और फिर व्यसन जब भगवान् श्रीकृष्ण में हो तब कृतार्थ हो सकते हैं। पुष्टिमार्गीय श्रवणादि भी प्रेम-प्रचुर होने के कारण साधन-भक्ति से अलग है।

पुष्टिमार्गीय सेवा में तनुज-वित्तजा-सेवा से अहंता-ममता दूर हो जाती हैं, संसार के दुःख निवृत्त हो जाते हैं, ब्रह्मज्ञान होता है; फिर मानसी-सेवा सिद्ध होती हैं। वह फलरूपा है। जिस तरह यज्ञ में सब विधि मंत्र से होती हैं उसी तरह पुष्टि सेवामें कीर्तनपुरःसर सब सेवा होती हैं। उस सेवा में सब

शास्त्रों का समन्वय है। इसमें मुख्य है, सेवा द्वारा सर्वस्व का प्रभु को विनियोग। पुष्टिसेवा में तीन फल है : अलौकिक सामर्थ्य, वैकुंठादि में सेवोपयोगी देह, और सायुज्य। इस फल-प्राप्ति में तीन प्रतिबंधक है : लौकिक उद्वेग, लौकिक भोग और प्रतिबंध ! प्रतिबंध भी दो प्रकार के है : भगवत्कृत और सामान्य जीवकृत ! सामान्य प्रतिबंध अगर खुद ने अपने लिए न किया हो तो, फिर भी सेवा का फल प्राप्त न हो तो समझना चाहिए कि भगवान् फल देना नहीं चाहते और ज्ञानमार्गीय रीति से रहते हुए (भगवान् की) कृपा की राह देखते रहना चाहिए। "पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा" ग्रंथ में श्रीमहाप्रभुजी पुष्टि के चार प्रकार बताते है : (१) **प्रवाह**- पुष्टि-उसमें अंगीकृत भी (भगवत्) क्रियारत हो, (२) **मर्यादा**- पुष्टि-(भगवान्) को जाननेवाला हो, (३) **पुष्टि-पुष्टि**-(लीला-भगवदिच्छादि) सर्वज्ञ हो, (४) **शुद्ध-पुष्टि**-(कृष्ण में) प्रेमपूर्ण हो। यह आखरी पुष्टि अतिदुर्लभ है। आधुनिक जीवों का अंगीकार प्रायः मर्यादा-पुष्टि में कहा जाता है।

इस मार्ग में हरि, गुरु और वैष्णव की समानता भाव- दृष्टि से मानी जाती है। वैष्णव-सेवा भी कृष्णसेवा-समान मानी गयी है। सर्वथा भगवद्-दृष्टि की यह विशिष्टता है।

फलितार्थ :

श्रीमद्‌वल्लभाचार्य, श्रीमहाप्रभुजी अपने संपूर्ण "ब्रह्मवाद" का संदोहन-फल एक ही वाक्य में देते हुए

उद्देश को अभिव्यक्त करते हैं, – “**अतःस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर्विधीयताम् ।**”

अर्थात् ब्रह्मवाद द्वारा पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण में बुद्धि स्थापित करनी चाहिए । जिसकी बुद्धि बिगड़े उसकी शुद्धि नहीं होती, सब बिगड़ जाता है, सभी साधन व्यर्थ हो जाते हैं । श्रीकृष्ण में बुद्धि रहती है तो शुद्धि स्वतः होती रहती है, भाववृद्धि होती है और कतार्थ होते हैं । प्रभु तो प्रकृष्ट प्रेम द्वारा प्रकट होते हैं, प्राप्त होते हैं, लीलानुभव देते हैं । वही कृतार्थता है, वही फल है ।

पुष्टिमार्ग की परम उत्कृष्टता का सिंहनाद श्रीमहाप्रभुजीने श्रीसुबोधिनीजी में किया है– “**मूढा अपि वैष्णवा एव हि विष्णुगतिं जानन्ति, न त्वत्यन्तं निपुणा अप्यवैष्णवाः ।**” मूठ भी अगर वह वैष्णव है तो, वह विष्णु (पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण) गति (लीला) को जानता है परंतु अवैष्णव अन्य (सब) अत्यन्त निपुण (होने पर) भी (भगवल्लीला को) जानते नहीं ।” यहाँ प्रेम की पराकाष्ठा है और यही पुष्टिमार्ग है । इस मार्ग में भगवान् श्रीकृष्ण की शरणागति और स्नेहपूर्ण सेवा द्वारा, इस कराल कलिकाल में भी, किसी भी मनुष्य को, बिलकुल सरल रीति से, ईप्सित साक्षातपरम शान्ति अवश्य सुलभ हो जाती है । पूर्णानंद–रूप भगवान् से विशेष आनंद और कहाँ मिले ? उस पुष्टिभक्ति को–भक्तों को–आचार्य चरणों को–पुष्टि पुरुषोत्तम को–सदैन्य वंदन ।

*